ओ३म्

छान्दोग्योपनिषद्भाष्य

निवेदन

आर्य्य पुरुषो और विद्वज्जनो !

यह तो आप जानते ही हैं कि ऋषिप्रणीत ग्रन्थों पर यथोचित और सर्वाङ्गसम्पन्न आर्य्यभाष्य अभीतक प्रकाशित नहीं हुए हैं । मैं सहर्ष प्रकट करता हूं कि इस आवश्यकता को पूरी करने के लिये बहुत विचार के पश्चात् अब वैदिकयन्त्रालय अजमेर की प्रबन्धकर्तृसभाने इस महान् कार्य्य का आरम्भ करादिया है। सम्प्रति छान्दोग्योपनिषद् (जिस के ऊपर प्रायः सम्पूर्ण षड् दर्शन निर्भर करते हैं । जो वेदान्तसूत्र की मुख्यतया जननी है) के संस्कृत और भाषाभाष्य का आरम्भ किया गया है। इस के दो खण्डों का भाष्य नमूने के तौरपर प्रकाशित कियाजाता है। आप से निवेदन है कि कृपा कर इस के विषय में अपनी सम्मति प्रदानकरें। और जो कुछ इस में त्रुटियें रह गईं हों एवम् न्यूनाधिक करना हो वह कृपया मुझे लिख भेजें कि तदनुसार ठीक किया जावे और आगे को ध्यान रख भाष्य पूरा किया जावे।

इस के भाष्यकर्त्ता मिथिलादेश निवासी श्रीयुत पण्डित शिवशङ्कर जी शर्म्मा काव्यतीर्थ पूर्व उपदेशक बङ्गालविहार आर्य्य प्रतिनिधि सभा हैं ।

☞ सम्मति एक मास के अन्दर २ ही आनी चाहिये ।

सम्पूर्ण ग्रन्थ अनुमान २४०० पृष्ठों में होगा । जो ग्राहक होना चाहैं कृपा कर सूचना देदें ।

आज्ञानुसार

शिवप्रसाद

मन्त्री प्रबन्धकर्तृसभा

वैदिकयन्त्रालय अजमेर) नमूने का
तारीख १५ फरवरी १९०४) मूल्य =)

ओ३म्

अथ छान्दोग्योपनिषद्भाष्यम्

(उद्गीथशब्दवाच्यब्रह्मोपासना)

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम् ॥ १ ॥

ओम् । इति । एतत् । अक्षरम् । उद्गीथम् । उपासीत । ओम् । इति । हि । उद्गायति । तस्य । उपव्याख्यानम् ॥ १ ॥

भाष्यम्—ओमिति शब्दो ब्रह्मवाचकोऽस्ति । यद्यपि ब्रह्मणो नामधेयानि बहूनिसन्ति तथापि सर्वेषां मुख्यतममिदमेवाभिधानम् । बह्वर्थत्वात् त्रय्यात्मकत्वात् सर्वोपनिषद्भिर्गीयमानत्वात् योगादिशास्त्रैर्निरूप्यमानत्वात् वेदाध्ययनारम्भे प्रथमोच्चार्यमाणत्वात् अव्ययतया ब्रह्मवन्निर्विकाराच्च एतैःकारणैर्ब्रह्मणः श्रेष्ठं नामधेयमोमित्येव विज्ञायते । ब्रह्मणः श्रेष्ठाभिधानत्वाद् अयं ग्रन्थोऽपि अनेनैवाक्षरेण प्रारभ्यते । प्रायः सर्वाश्चोपनिषदो मुख्यतया एतदक्षरं श्रेष्ठमालम्बनमुपदिशन्ति । तद्यथा—

कठोपनिषदि– एतदालम्बनं श्रेष्ठम् । एतदालम्बनं परम् ॥ एतदालम्बनं ज्ञात्वा । ब्रह्मलोके महीयते ॥

प्रश्नोपनिषदि–यः पुनरेतत्त्रिमात्रेणैव ओमित्येतेनैवाक्षरेण परमपुरुषमभिध्यायीत………स एतस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते ॥

मुण्डकेऽपि–प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते । अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥

इत्थं प्रायः सर्वोपनिषद ओमित्येवाक्षरं प्रधानत्वेन गायन्ति । ननु एतावता किं प्रतीकोपासनात्र उपदिश्यते? कच्चित् अर्चादौ विष्णुमिव ओङ्काराक्षरे ब्रह्मबुद्धिं भावयेत् ? अथवा ओंशब्दप्रतिपाद्यं नीरूपं निराकारादिशब्दाभिधेयं यत् किमपि ब्रह्म वर्त्तते तदुपासीत ? एवं चेत् को विशेषः प्रणवाक्षरे । एवं प्राप्ते ब्रूमः । नह्यत्र उपनिषत्सु प्रतीकोपासना विधीयते किं तर्हि । सूक्ष्मतमस्य परमात्मनो निराकारस्य केनापि वाचकेन अवश्यं भवितव्यम् वाचकादृते वाच्यस्य बोधाभावात् । तत्रापि नेदिष्ठेन सार्थकेन तदर्थमर्म्मद्योतकेन तेन वाचकेन भवितव्यमिति । ओमितिशब्दस्तत् सर्वमर्थमवगमयति । अतो निर्विशेषं ब्रह्म प्रद्योतयितुं चिरन्तनैर्ऋषिभिर्वाचकत्वेन ओमिति शब्दो प्रधानत्वेन प्रयुक्तः । अर्चादीनां तु उपनिषत्सु चर्चालेशोऽपि न विद्यते तस्या इदानीन्तनैरुपनिषदनभिज्ञैः प्रचारितत्वात् । दृप्तबालाकेरजातशत्रोश्चाख्याने आदित्यचन्द्रविद्युदादिरूपे प्रतीकेऽपि ब्रह्मोपासनां स्वयमेव उपनिषद् यदा प्रतिषेधयति तदा काशास्ति अन्यस्मिन्प्रतीके ब्रह्मोपासनामुपदिशेत् । यद्वाचानभ्युदितमित्येवं जातीयकैर्वाक्यैर्बहुशस्तस्या निषिद्धत्वाच्च । न च सर्वेभ्यः पवित्रतमे ओमित्यस्मिन्नेवाक्षरे प्रतीके ब्रह्मोपासनीयमिति वाच्यम् । उपनिषत्सु तस्य क्वचिदपि अनुक्तत्वात् । ओमिति

अवति रक्षतीति ओम् । अवतेष्टिलोपश्च इति वैयाकरणाः । आप्नोतीति च ओमिति ब्राह्मणम् । अकारोकारमकारवर्णत्रयाद् ओमिति स्मृतिकाराः । अदृश्यत्वाव्यवहार्यत्वादिगुणात् कस्माच्चिदपि चतुर्थाक्षराद् ओमिति उपनिषदः । ओमिति ब्रह्मनामधेयं सर्वव्यापकार्थम् । यद्यपि इति शब्दः परः प्रयुक्तः पूर्वं पदं वाच्यात् व्यावर्त्त्यशब्दस्वरूपे एवावस्थापयति तथाप्यत्र ओमित्यस्य मुख्यतामेव प्रद्योतयितुं प्रयुक्तःसन् तस्य श्रैष्ठ्यमेव निर्धारयति । तस्याक्षरस्य गूढार्थं यथास्थानमुपरिष्टात् दर्शयिष्यामः ।

एतत् । अक्षरं । न क्षरति न संचलति न विनश्यति इति अक्षरम् । अविनश्वरं ब्रह्मवर्णात्मकं वा । उद्गीथम् यं सामगाः उच्चैर्गायन्ति स तम् उद्गीथम् । उद्गीथशब्दवाच्यम् । उपासीत । भावयेत । मन्वीत इति यावत् । तज्जपस्तदर्थभावनम् इति महर्षिणा पतञ्जलिनाभिहितत्वात् । ओं शब्दस्य जपपूर्वकं तदर्थेन गम्यमानं उद्गीथाभिधेयत्वेन ब्रह्म ध्यायेदित्यर्थः । ओमिति हि उद्गायति । स्वयमुपनिषद् उद्गीथशब्दस्य व्युत्पत्तिं दर्शयति । हि यस्मात् कारणात् उद्गाता नामा ऋत्विक् ओमिति व्यापकं ब्रह्म उच्चैस्तमांस्वरेण गायति । अतएव ओं शब्दस्य उद्गीथापरपर्य्यायोपि भवति । अतएव च उद्गीथशब्दवाच्यं ब्रह्मोपासीत । ओमित्यारभ्य हि यस्मादुद्गायति अत उद्गीथ ओङ्कार इति केचित् । सामगाः खलु उद्गीथनाम्ना बह्वृचाः प्रणवनाम्ना अन्ये तु ओंकारनाम्ना प्रायः ओं शब्दं व्यवहरन्ति । तस्य ओङ्कारशब्दस्य उपव्याख्यानम् । उपव्याख्यानं नाम समीपव्याख्यानम् । समीपव्याख्यानञ्च तावत् ओं शब्दस्ययोर्थो नेदिष्ठ आन्तरिकश्च तस्य व्याख्यानम् । सर्वो हि पदार्थः आभ्यन्तरबाह्यगुणैरुपेतोस्ति । बाह्या गुणाः प्रत्यक्षतया गृह्यमाणत्वाद् अल्पज्ञैरपि गृह्यन्ते आन्तरिकास्तु कैश्चिदेव विशेषज्ञैः । प्रकृते तु ऋषिभिराभ्यन्तारिकगुणदार्शीभिः सद्भिः ओं शब्दस्य आभ्यन्तरिकार्थो विधास्यते इतियावत् ॥ यथा पृथिव्यादीनां पदार्थानां बाह्याआभ्यन्तराश्च गुणाः सन्ति तथैव शब्दस्यापि । एकः साधारण-

र्थो भवति यम् ईषद्विदोपि जानन्ति स एव शब्दस्य बाह्योगुणः अपरश्च विशेषार्थो भवति यं केवलं शब्दतत्त्ववित्तमा ज्ञानिन एव जानन्ति स एव तस्य आभ्यन्तरो गुणो बोध्यः । इदमेव तात्पर्यमुपव्याख्यानस्य इति ॥

अनुवाद— १—(मनुष्य) उच्चस्वर से गीयमान इस अविनश्वर ओम् (ब्रह्म) की उपासना करे। क्योंकि ओम् (ब्रह्म) को ही उच्चस्वर से (ब्रह्मवित्) गाते हैं। (उसका उपव्याख्यान आगे कहा जायगा) यद्वा २–इस उद्गीथ नामक ओङ्कार अक्षर की उपासना करे क्योंकि (ब्रह्मवित्) ओङ्कार को (प्रथम उच्चारण कर) उद्गीथ का गान करते हैं। (उसका आभ्यन्तरिक व्याख्यान आगे कहा जायगा)

पदार्थ-(अक्षरम्) अविनश्वर (उद्गीथम्) जिस को सामगायक उच्चस्वर से गाते हैं और (एतत्) प्रत्यक्षवत् सर्वत्र भासमान इस (ओम्) सर्वव्यापक सर्वरक्षक ब्रह्म की (इति) ही (उपासीत) उपासना करे (हि) क्योंकि ब्रह्मवित् (ओम् इति) सर्वव्यापकत्वादि गुण युक्त ब्रह्म को ही (उद्गायति) उच्च स्वर से गाते हैं। यद्वा (उद्गीथम्) उद्गीथ नामक (एतत्) इस (ओमिति) ओङ्कार (अक्षरम्) अक्षर की (उपासीत) भावना करे अर्थात् ओङ्कार अक्षर के अर्थों को विचारे (हि) क्योंकि (ओमिति) ओङ्कार अक्षर का प्रथम; आरम्भ कर (उद्गायति) उद्गीथ का गान करते हैं (तस्य) उस ओङ्कार का (उपव्याख्यानम्) आन्तरिक व्याख्यान (आगे कहा जायगा)।

भाष्याशय—ओम् यह शब्द ईश्वरवाचक है। यद्यपि ईश्वर के नाम अनेक हैं तथापि ब्रह्म के सब नामों में से यह नाम मुख्यतम अर्थात् श्रेष्ठ है। क्योंकि १–इस शब्द के अर्थ बहुत हैं। २–वेदों का सारभूत है। ३–प्रायः सब उपनिषदें इसी शब्द को गा रही हैं। ४–योग आदि शास्त्र इसका निरूपण कर रहे हैं। ५–वेद के अध्ययन के आरम्भ में प्रथम इसी को उच्चारण करते हैं। ६–और अव्यय होने के कारण ब्रह्मवत् यह शब्द भी निर्विकार है। (अर्थात् जिस प्र-

(१) संस्कृत में (उपासीत) पद है इसका कर्तृपद मूल में नहीं कहागया है। जो पद अध्याहृत होवेंगे वे कोष्ठ ( ) के अभ्यन्तर में रक्खे जावेंगे।

कार ईश्वर आदि शब्द के व्याकरण के अनुसार विभक्तिकृत विकार प्रतीत होते हैं तद्वत् ओं शब्द में विकार की प्रतीति भी नहीं होती क्योंकि यह शब्द अव्यय है। अव्यय का सर्वदा एक ही रूप बना रहता है । इन कारणों से यह शब्द ब्रह्म का मुख्य नाम है)। जिस कारण यह नाम मुख्य है अतः इसी नाम से ग्रन्थ का भी आरम्भ करते हैं। और इसी नाम के आधार से ब्रह्म की उपासना भी प्रायः सब उपनिषदें मुख्यतया बतलाती हैं। यथा—

(एतदालम्बनमित्यादि) यह कठोपनिषद् का वचन है । इस के पहले ओङ्कार का वर्णन है। यह ओङ्कार रूप आलम्बन श्रेष्ठ और उत्कृष्ट है। इस आलम्बन को जानकर मनुष्य मुक्तिभागी होता है।

पुनः प्रश्नोप० में—(यःपुनरेतत्त्रिमात्रेणैवेत्यादि) जो मनुष्य इस त्रैमात्रिक ओङ्कार अक्षर के द्वारा ब्रह्म का ध्यान करता है वह इस जीव के द्वारा परात्पर ईश्वर का साक्षात्कार करता है।

पुनः मुण्डक में-(प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा इत्यादि) ओङ्कार को धनुष आत्मा को बाण और ब्रह्म को लक्ष्य बना कर सावधानी से उस लक्ष्य में वेध करे और जैसे बाण लक्ष्य में लगकर उसी के अन्तर्गत होकर तन्मय होजाता है वैसे ही ओङ्कार के द्वारा मनन करता हुआ साधक भी ब्रह्म के अन्तर्गत हो जाय।

इस प्रकार प्रायः सब ही उपनिषदें ओङ्कार शब्द को उत्तम आलम्बन बतलाती हैं। अब शङ्का होती है कि इस से क्या यह तात्पर्य निकलता है कि मूर्ति में जैसे विष्णु आदि की भावना लोग करते हैं वैसे ही ओङ्कार शब्द में भी ब्रह्म बुद्धि करे ? अथवा ओं शब्द से जिस अर्थ का बोध होता है अर्थात् ब्रह्म जो रूपरहित है और जो निराकार आदि शब्द का वाच्य होता है उस की उपासना करे। यदि उस ब्रह्म की उपासना उपनिषद् बतलाती है तो फिर ओङ्कार शब्द में ही क्या विशेषता रह गई। किसी एक शब्द से उसे समझ लेवेंगे वा अनेक व्याख्यान से उसे जान लेवेंगे । जिसी किसी प्रकार से वह ब्रह्म ज्ञात होजाना चाहिये। फिर ओङ्कार शब्द के द्वाराही उसकी क्यों उपासना की जाय। इस शङ्का के उत्तर में यह कहा जाता है कि सूक्ष्मतम निराकार जो

परमात्मा है उस का नाम कोई अवश्य होना चाहिये क्योंकि नाम के विना नामी (नामवाला) का बोध नहीं हो सकता। परन्तु नाम भी वैसा होना चाहिये जो नामी के यथार्थ गुण और मर्म्म को दिखलावे । वैसा ब्रह्म का कौन नाम हो सकता है। ऐसा नाम केवल एक ओङ्कारही है। जो ईश्वर के सब गुणों को दिखलाता है इसकारण प्राचीन ऋषियों ने वैदिक शब्दों में से इस शब्द को दुह कर ब्रह्म के नाम में प्रयोग किया है। अर्चा (मूर्त्तिपूजा) की चर्चा का लेश भी उपनिषदों में नहीं है । इसका तो उपनिषद् के अनभिज्ञ किन्हीं आधुनिकों ने प्रचार किया है। जब स्वयं उपनिषद् दृसबालाकि और अजातशत्रु की आख्यायिका में सूर्य्य चन्द्र और विद्युत् आदि प्रतीक में भी ब्रह्मोपासना का प्रतिषेध करती है तब कब आशा है कि अन्य प्रतीक में ब्रह्मोपासना के लिये उपनिषद् उपदेश करे । और " यद् वाचानभ्युदितम् " इत्यादि अनेक वाक्यों से प्रतीकोपासना का पुनः पुनः निषेध करती आती है इन सबों से यही सिद्ध होता है कि यहां प्रतीकोपासना (१) से अभिप्राय नहीं है। यदि ऐसा कहैं कि सबों से पवित्रतम अक्षरात्मक ओङ्काररूप प्रतीक में ही उस की उपासना करे। सोभी ठीक नहीं क्योंकि उपनिषदों में ऐसा वचन कहीं नहीं कहागया है । इस अक्षर के गूढ़ तात्पर्य को स्थान स्थान में आगे दिखलावेंगे ।

ओम् शब्द—रक्षा आदि अर्थ में विद्यमान है । 'अव' धातु से ओम् शब्द की सिद्धि वैयाकरण (२) लोग मानते हैं ।

२—आप्लृ धातु से भी ओम् शब्द की सिद्धि ब्राह्मण ग्रन्थ * मानता है।

(१) न प्रतीके न सः । वे० सू० ४ । १ । ४ । इस सूत्र से सर्वथा प्रतीक उपासना का निषेध है ।

(२) अवतेष्टिलोपश्च १ । १४१ । उणादि सूत्र से मन् प्रत्यय और टी लोप होकर 'अव' धातु से ओम् शब्द सिद्ध होता है ।

* को धातुरित्याप्लृधातुः"......तस्मादापेरोङ्कारः सर्वमाप्नोतीत्यर्थः गोपथ ब्रा० प्रपा० १। कां० २६ । जो सर्वत्र व्यापक हो उसे ओङ्कार कहते हैं यह इसका आशय है।

३—अकार उकार मकार इन तीन वर्णों से ओम् शब्द की सिद्धि स्मृतिकार (१) लोग मानते हैं।

४—अदृश्य अव्यवहार्य आदि गुणवाला किसी चौथे अक्षर से भी ओङ्कारशब्द की सिद्धि उपनिषद् (२) मानती है। ओम् यह ब्रह्म का नाम है सर्वव्यापक आदि इसका अर्थ है।

इति शब्द—यद्यपि इति शब्द जिसके पर में प्रयुक्त होता है उस पूर्व पद को अपने वाच्य से पृथक् करके केवल शब्द स्वरूप में ही स्थापित कर देता है तथापि यहां ओम् शब्द की मुख्यता को द्योतित करने के लिये ही प्रयुक्त हुआ है अतएव उसकी श्रेष्ठता को ही अवधारित करता है। अतएव ओम् शब्द को अपने वाच्य ब्रह्म से पृथक् नहीं करके प्रत्युत श्रेष्ठता को जताता है।

उद्गीथशब्द—साम गानेवाले ओङ्कार शब्द को उच्चस्वर से गाते हैं इसी कारण उसको उद्गीथ कहते हैं। क्योंकि—उत्+गीथ इन दो शब्द के योग से उद्गीथ बनता है। उत् नाम उच्च। गीथ नाम जो गाया जाय अर्थात् जो शब्द उच्चस्वर से गायाजाय अथवा जिसका गान उच्चस्वर से किया जाय उसे उद्गीथ कहते हैं। सामवेद में उद्गाता नाम ऋत्विक् कर्तृक गान का नाम भी उद्गीथ होता है। यहां पर इतनी बात और जाननी चाहिये कि प्रायः सामवेदी लोग ओङ्कार को उद्गीथ नाम से व्यवहार करते हैं। ऋग्वेदी लोग प्रणव कहते हैं और अन्यलोग ओङ्कार कहते हैं।

उपासीतशब्द—इसके अर्थ भावना करना मनन करना आदि हैं क्योंकि महर्षि पतञ्जलि ने अपने योगसूत्र में कहा है कि (तज्जपस्तदर्थभावनम्) अर्थात् ओम् शब्द का मुख से उच्चारण करता हुआ ओम् शब्द से गम्यमान जो ब्रह्म है उसका ध्यान करे न कि केवल ओम् शब्द का ही उच्चारण करता रहे।

---

(१) अकारञ्चाप्युकारञ्चमकारञ्च प्रजापतिः। वेदत्रयान्निरदुहद् भूर्भुवः स्वरितीति च मनुः २। ७६॥

(२) अमात्रश्चतुर्थः माण्डू० उप० १२।

उपव्याख्यान शब्द—उप+व्याख्यान इन दो शब्दों से उपव्याख्यान शब्द बनता है। उप का अर्थ समीप। व्याख्यान नाम व्याख्या। समीपव्याख्यान का तात्पर्य यह है। ओम् शब्द का जो आन्तरिक (भीतरी) अर्थ है उस का व्याख्यान। अर्थात् सब पदार्थ आन्तरिक और बाह्य गुणों से युक्त हैं। बाह्य गुणों की प्रत्यक्षता होने के कारण अल्पज्ञ आदमी भी उन्हें जान लेते हैं परन्तु आभ्यन्तरिक गुणों को तो कोई २ विशेषज्ञ आदमी ही जानते हैं। परन्तु आन्तरिक गुण ही ठीक रीति से जानने चाहियें। अतः आन्तरिक गुणों के देखने वाले महर्षि लोग ओं शब्द के आभ्यन्तरिक अर्थ को यहां कहेंगे यह इस का भाव है। जैसे पृथिवी आदि के आभ्यन्तर और बाह्य गुण हैं तद्वत् शब्द के भी एक सामान्य अर्थ होता है जिस को सर्व साधारण जानते हैं वही उसका बाह्य अर्थ है। और एक विशेष अर्थ होता है जिस को बड़े २ ज्ञानी शब्दतत्त्ववेत्ता ही जानते हैं। वही शब्द का आभ्यन्तरिक अर्थ है। यही तात्पर्य उपव्याख्यान शब्द का है ॥१॥

एषां भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपो रसोऽपामोषधयो रस ओषधीनां पुरुषो रसः पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋग्रस ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथो रसः ॥ २ ॥

एषाम् । भूतानाम् । पृथिवी । रसः । पृथिव्याः । आपः । रसः । अपाम् । ओषधयः । रसः । ओषधीनाम् । पुरुषः । रसः । पुरुषस्य । वाक् । रसः । वाचः । ऋक् । रसः । ऋचः । साम । रसः । साम्नः । उद्गीथः । रसः ॥ २ ॥

भाष्यम्—(एषाम्) आकाशवायुतेजोजलानां (भूतानां) महाभूतानां पृथिवी रसः सारभूता। कुत एषां चतुर्णां महाभूतानां पृथिवी रसः ? । एषां गुणाः शब्दस्पर्शरूपरसाः अस्यामुपलभ्यन्ते। पृथिव्यास्तु गन्धो गुणः। अनेकधातुलतादिभिःसारितरससमूहमौषधमिव एषां चतुर्णां महाभूतानां गुणानामाश्रयत्वात् एषां भूतानां रस इव पृथिवी वर्तते। अथवा एषां दृश्यमानानां चराणामचराणाञ्च पृथिवी रसः आश्रय इत्यर्थः। अस्मिन् प्रकरणे रसशब्दो हि अनेकार्थद्योतकोऽस्ति। यथा आम्ररसः इक्षुप्रभृतीनाञ्च रसो भवति तादृग् नायं रसः। रसशब्दस्य एकदेशतात्पर्य्यमेवात्रापेक्ष्यते। अयमर्थः। पदार्थस्य सार एव रसपदेन व्यवह्रियते। सारश्च किं तावत्। यः खलु वस्तूनामाधारोऽस्ति यदाधारेण वस्तूनां वस्तुत्वं विज्ञायते स एव सारः। एतेन वस्तूनामाधारो जीवनं वा रस एव इत्यपि कथयितुं शक्यते। यथा तिलस्य रस एव सारोऽस्ति। तिलात् यदि रसो निःसार्य्येत। तदा वस्तु किं स्यात्। येन कारणेन तिलं तिलं भवति अधुना तत् तिलं न तिलमस्ति। किन्तु निःसारं निस्तेजस्कं तिलस्य शरीरमेव अवतिष्ठते न यथार्थं तिलम्। एतेन विज्ञायते वस्तूनां रस एव स्थितिकारणं स एवाश्रयः। तेनैव हेतुना वस्तूनां सौन्दर्य्यं वा तेजो वा याथार्थ्यं वा विद्यते। अतो रसं स्थितिगतिभूषणसुन्दरतातेजआदिभिः शब्दैः व्यवहर्तुं शक्नुमः। कार्य्यकारणयोरभेदविवक्षया सा संगतिर्भवितुमर्हति। यथा गृहकारणत्वाद् गृहशब्दवाच्या स्त्री भवति। तद्वत्। अतोऽत्र प्रकरणे रसशब्दः केवलं स्वार्थप्रद्योतको भवति।

पृथिव्या आपो जलं रसः। अयमर्थः खन्यमानायाः पृथिव्याः सकाशात् पीड्यमानानां तिलप्रभृतीनां सकाशात् रस इव जलमुद्भवत् लभ्यते अतः इयं वर्णना सुसंगता। न पृथिव्या वास्तविको रसो जलमस्ति किन्तु रस इव रस इति यावत्। अपां जलस्य ओषधयः शालीगोधूमयवादीनि अन्नसाधनानि रसः। यतो जलसहकारेण एषामुत्पत्तिस्थिती भवतः। जलमेव सर्वासामोषधीनां जी-

वनम् । अतएव जलस्य जीवनमिति अपरपर्य्यायः पठ्यते जलनामसु । ओषधीनां पुरुषो रसः । ओषधीरन्तरा जीवनधारणमशक्यत्वाद् ओषधीनां पुरुषो रस इत्युच्यते । ओषधेर्वीर्य्यं तस्मात्पुरुष इत्यपि अनुसन्धेयम् । पुरुषस्य वाग्रसः । पुरुषस्य वागेवभूषणम् । विस्पष्टार्था वाणी मनुष्याणां वाग् । पशुविहगादीनान्तु भाषा नादकूजनादिशब्दाभिवचना । मनुष्याणां मध्ये विस्पष्टार्था भाषा नाभविष्यत् तदा समुन्नतिर्वा वृद्धिर्वा मनुष्यता वा नाभविष्यत् अतो मनुष्याणां यथार्थरसो वागेव । मनुष्याणां परमां शोभां वागेव वर्द्धयति । मनुष्यस्तु कञ्चित् कालमेवात्र स्थित्वा नामावशेषोभवति । तस्य वाग् रसो ग्रन्थस्तु सर्वदा रसिकान् रसे निमज्जयति । नह्यत्र वाग् साधारणी गृह्यते बहुकालानुभूता बहुपरिश्रमानुमिता जगत् कल्याणी या महात्मनां वाणी सैवात्र वाग् । सा च इक्षो रस इव मनुष्यान्तःकरणविनिर्गता महाफला असंशयं रस एव सा । वाचः ऋग्रसः । अत्र ऋग्पदेन पादव्यवस्थासहितानि गायत्रीप्रभृतीनि वैदिकानि छन्दांसि गृह्यन्ते । तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था इति मीमांसावचनात् । ताश्च ऋचः छन्दोबद्धत्वात् सुमधुराः उच्चार्यमाणाः सत्यः मनुष्यवाणीं सर्वथा भूषयन्ति पवित्रयन्ति एतस्माद्धेतोः पुरुषवचनस्य ऋगेव रसो भूषणम् । ऋचः सामरसः । गीतिविधायकानि छन्दोबद्धानि पदानि अत्र सामपदेन गृह्यन्ते "गीतिषु सामाख्या" इति मीमांसावचनात् यदा च सैव ऋग् सामगैर्गीयते तदा तस्या अपि भूषणवत् साम प्रतीयते अतः ऋचोपि सामरसो भूषणम् । साम्नः उद्गीथोरसः सामवेदस्य रसः निष्कर्षस्तात्पर्यं मुद्गीथः ब्रह्मेत्यर्थः । यद्वा गेयानां साम्नां मध्ये सुललितत्वात् सुमधुरत्वात् श्रुतिसुखकरत्वात् उद्गीथ ओङ्कारस्तेषां सारतम इव प्रतिभाति । अत ? ओङ्कारः साम्नांवैदिकगेयपदानामपि सारतमः ॥ २ ॥

अनुवाद—इन भूतों का पृथिवी रसहै । पृथिवी का जलरस है । जल का ओषधि (धान गेहूं यव आदि) रस हैं । ओषधि का पुरुष रस है । पुरुष का वाग् (वचन) रस है । वचन का ऋग्रस है । ऋग् का साम रस है । साम का उद्गीथ(ओङ्कार) ब्रह्मरस है ।

पदार्थः—(एषाम्) इन (भूतानाम्) जल, वायु, आकाश, तेज आदि महाभूतों अथवा प्राणियों के (रसः) रस वा आश्रय पृथिवी है (पृथिव्याः) पृथिवी के (रसः) रस (आपः) जल है (अपाम्) जल के (रसः) रस (ओषधयः) अन्न हैं (ओषधीनाम्) अन्नों के (रसः) कार्य (पुरुषः) पुरुष है (पुरुषस्य) पुरुष का (रसः) भूषण (वाग्) वाणी है (वाचः) वाणी का (रसः) रस (ऋग्) ऋचा है (ऋचः) ऋचा का (रसः) रस (साम) सामगान है (साम्नः) सामगान का (रसः) रस (उद्गीथः) ओङ्कार है । यद्वा सामवेद के रस अर्थात् निष्कृष्टार्थ मुख्यतात्पर्य उद्गीथ ब्रह्म ही है।

भाष्याशयः—(१) इनभूतों का पृथिवी रस है । इसका भाव यह है कि आकाश, वायु, तेज और जल इन चार महाभूतों के जो क्रमशः शब्द १ स्पर्श २ रूप ३ और रस ४ ये चार गुण हैं । वे चारों इस पृथिवी में पाये जाते हैं। और पृथिवी का अपना गुण गन्ध है । इस कारण पृथिवी सब भूतों का रस कहलाती है जैसे कईएक औषध (दवाई) अनेक वस्तुओं का रस होता है तद्वत् यह पृथिवी भी सबों के गुणों के आश्रय होने के कारण मानो उन सब भूतों का रस स्वरूप है इस कारण इन भूतों का रस पृथिवी कही गई है । अथवा ये जो चर अचर दृश्यमाण पृथिवी के पदार्थ हैं इन सबों का आश्रय पृथिवी ही है अतः इन का रस (आश्रय) पृथिवी कही गई है ।

यहां रस शब्द अनेक अर्थ का द्योतक है। यद्यपि जैसा आम्र का रस और इक्षु (ईख)आदि का रस होता है वैसा रस यहां नहीं है किन्तु यहां रस शब्द का केवल एकदेशी तात्पर्य्य लियागया है अर्थात् वस्तु का साररस है । परन्तु सार क्या वस्तु है ? सार वस्तु वही है जिसके आधार पर उस वस्तु की स्थिति मानी जाती है । इस कारण यदि ऐसा कहाजाय कि इस वस्तु का आधार वा जीवन रस है वा रस ही सार है तो अनुचित नहीं होगा । जैसे तिल का जो रस है वही तिल का सार है यदि तिल से रस निकाल लिया जाय तो वस्तु क्या रहजायगी ? । निः सन्देह जिस के कारण वह तिल तिल कहलाता है वह अब यथार्थ में तिल नहीं है । किन्तु निःसार निस्तेज तिल का शरीरमात्र हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि वस्तु का जो रस है वही वस्तु की

स्थिति का कारण और आश्रय है । और उसी रस के कारण उस की सुन्दरता तेज आदि गुण विद्यमान हैं । अतः रस शब्द को स्थिति, गति, भूषण, सुन्दर, तेज आदि नाम से व्यवहृतकर सकते हैं । कार्य और कारण को एक मान लेने से यह संगति होती है । जैसे गृह का कारण स्त्री है इसलिये संस्कृत में गृह स्त्री को भी कहते हैं । तद्वत् इसलिये यहां रस शब्द अपने अर्थ का केवल द्योतक है । वाचक नहीं । द्योतक उसको कहते हैं जो अपने गौण अर्थ से विविध भाव को प्रकाश करता हो अतः यहां रस शब्द को अर्थ आश्रय आदि भी किया गया है और किया जायगा ।

(२) पृथिवी का जल रस है । इस का तात्पर्य यह है जैसे तिल और सर्षप (सरसों) आदि पदार्थों को कोल्हू आदि यन्त्रों में पीड़ने से तेल रूप रस निकलते हैं तद्वत् पृथिवी को भी खोदने से उसके भीतर से जल निकलता हुआ देख पड़ता है इसलिये पृथिवी का रस जल कहा है । पृथिवी का वास्तविक रस तो जल नहीं है किन्तु रस के सदृश अर्थ करने से सुसंगति होती है ।

(३) जल का ओषधि रस है यद्यपि धान, गेहूं, यव आदि का नाम ओषधि है । क्योंकि संस्कृत (१) में ओषधि उसको कहते हैं जिसके फल पकजाने पर बिलकुल सूखजाय । गेहूं आदि वृक्ष के फल जब पकजाते हैं तब वे वृक्ष सूख जाते हैं । परन्तु यहां ओषधि प्रकार से अभिप्राय है अतः ओषधि शब्द से उन सब वृक्षों का ग्रहण होता है जिनमें किसी प्रकार के खाद्य पदार्थ लगते हों । और उपलक्षण से ओषधि शब्द का अर्थ अन्नमात्र का ग्रहण करना चाहिये । ओषधि का जीवन जल है अर्थात् जल की सहायता से ही ओषधियों की उत्पत्ति और पालन होते हैं । इसी कारण संस्कृत में जल के नामों में से एक नाम जीवन (२) भी है । क्योंकि जल सबों का जिलाने वाला है । इसलिये यहां जल का रस ओषधि कही गई है ।

(४) ओषधि का पुरुष रस है । ओषधि का अर्थ यहां सकल अन्न का

नोट (१) ओषध्यः फलपाकान्ताः । इति कोशः ।

(२) पयःकीलालममृतंजीवनंभुवनंवनम् । इति कोशः ।

ग्रहण करना चाहिये। ओषधि के विना मनुष्य का जीवन नहीं रह सकता अतः ओषधियों का रस पुरुष कहा गया है। यद्वा ओषधि से पुरुष की उत्पत्ति होने के कारण से भी ओषधियों का रस पुरुष (१) है।

(५) पुरुष का वाग् रस है। पुरुष का भूषण वचन है। वाग् शब्द का अर्थ संस्कृत में साफ भाषण का है पशु पक्षी आदि के भाषण को नाद कूजन आदि कहेंगे परन्तु मनुष्य की भाषा को वाग् कहते हैं। यदि मनुष्य में विस्पष्ट भाषण नहीं रहता तो कदापि मनुष्य जाति की ऐसी उन्नति वा मनुष्यता नहीं होती। अतः मनुष्य की स्थिति, उन्नति, वृद्धि आदि मनुष्य के भाषण के ऊपर ही निर्भर है इस कारण मनुष्य का यथार्थ रस वचन ही है। मनुष्य की यथार्थ शोभा वचन ही समझना चाहिये क्योंकि मनुष्य इस संसार से चल बसता है परन्तु उसका वचन रूप रस अर्थात् ग्रन्थ सकल मनुष्यों को अपने में निमज्जित करता रहता है। यहां वाणी शब्द का अर्थ साधारण वचन नहीं किन्तु निज अनुभव से और परिश्रम से जो कल्याणकारिणी वाणी इक्षु से रसवत् अन्तःकरण से निकलती है उसका यहां ग्रहण है। वह निकली हुई कल्याणी वाणी निःसन्देह सम्पूर्ण शरीर का रस है।

(६) वचन का ऋग् रस है। यहां ऋग् शब्द से पादव्यवस्थासहित जो गायत्री आदि विविध वैदिक छन्द हैं उन का ग्रहण है। क्योंकि मीमांसा में कहा गया है कि:—

तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था।

जैसे आजकल तोटक आदि छन्दों में चरण की व्यवस्था है अर्थात् किस चरण में कितने गुरु और लघु होने चाहियें इत्यादि की व्यवस्था होती है वैसे ही गायत्री आदि छन्द में भी व्यवस्था है अतः वैसी व्यवस्था जिस वैदिक छन्दों में पाई जाय उस को ऋग् वा ऋचा कहते हैं। यहां ऋचा शब्द वैदिक छन्द में रूढ़ है अर्थात् जो वैदिक छन्द हैं उन्हीं को यहां ऋग् वा ऋचा

(१) अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यग् आदित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः। स्मृति।

कहनी चाहिये । प्रायः सकल छन्द वचनों का रस है । वैदिक छन्द तौ वचनों का रसतम है । क्योंकि जब वचन में पूरी शक्ति आती है तब ही मनुष्य ईश्वरीय वा प्राकृतिक भाव को पूर्ण रीति से छन्दोबद्ध कर सकता है । मनुष्य जब उत्पन्न होता है तब वह अपनी साधारण भाषा को बोलता हुवा निर्वाह करता है परन्तु जब शिक्षा मिलती है और निज विचारों और विविध भावों से अपने अन्तःकरण को भरता है तब कदाचित् अपने भावों को छन्दोबद्ध करने में समर्थ होता है । उस का काव्य वा ग्रन्थ मानो वचनों का सारभूत है आदमी का यह स्वभाव है कि जितना विचार पद्य के लिखने में करेगा उतना गद्य के लिखने में नहीं । अतः वचनों का सार यथार्थ में छन्दोबद्ध काव्य है । और ईश्वरीय काव्य की तो बात ही क्या । ऋग् ईश्वरीय काव्य है । अतः मनुष्य के वचन का भूषण ऋग् वा ऋचा कही गई है ।

(७) ऋग् का साम रस है । साम पद से यहां वेद में जो गाने के योग्य ऋचा हैं उनका ग्रहण है । क्योंकि—" गीतिषु सामाख्या " इस मीमांसा के वचन से साम उसी को कहते हैं जो ऋचाएं गाई जावें । प्रथम वर्णन हो चुका है कि वचन का भूषण वा रस ऋचा है । वही छन्दोबद्ध पद यदि गायाजाय तो निःसन्देह छन्दों का भी वह रस ज्ञात होता है । उस गानरूप महारस में आदमी इस प्रकार निमग्न होता है कि जिसकावर्णन हो नहीं सकता । वह अलौकिक रस है इसी कारण ऋचा का भी रस साम कहा गया है अर्थात् ऋचाओं का जो गान है वह मानो ऋचाओं का रस है ।

(८) साम का उद्गीथ (ओङ्कार) रस है । इसका तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण सामवेद के तत्वों का सारभूत केवल ब्रह्म ही है यह आठमा रस है । यहां बहुत विचारने की बात है जैसे लोक में अनेक प्रकार के गान हैं तद्वत् वेद में भी । और गान भी समय समय के होते हैं और उन गानों में कोई बहुत अच्छे गान कोई उससे मध्यम कोई उससे निकृष्ट । परन्तु ओङ्काररूप साम भी एक गेय (गानेयोग्य) वस्तु है और सर्वोत्तम है । क्योंकि यह पद अतिशय ललित, मधुर और कर्ण का सुखकर है । इसमें भी क्या कारण है ? ओम् शब्द (जो अ+उ+म् अक्षरों से बना है) में क्यों मधुरता मानीजाय ।

इसका अनुभव केवल शब्द शास्त्र के तत्त्व जानने वाले कर सकते हैं। और इसका उच्चारण भी विचित्र ध्वन्यात्मक होता है। इसी कारण साम का भी यह रस कहा गया है (१)।

अब आप इन आठों की संगति मिला लेवें जड़ पदार्थ से लेकर चेतन पदार्थ तक का अन्तिम रस ओंकार है। जिस प्रकार घास आदि का रस दूध है। और दूध का रस घृत है यदि घृत का भी कोई रस निकाला जाय और उसका भी रस निकाला जाय तो वह पदार्थ कैसा उत्तम हो सकता है। तद्वत् पृथिवी आदियों में यह ओंकार जो आठमा रस है वह अनूपम रस है। शोक इस बात का है कि आज भारतवर्ष में इस रसके प्रकाश करने वाले वा दिखलाने वाले गायक नहीं हैं। यदि कोई प्रश्न करे कि यदि ओंकार ऐसा रस रहता तो मनुष्य उसको नहीं छोड़ता क्योंकि मनुष्य का स्वभाव है कि जिससे उसकी तृप्ति होती है उसको वह कदापि नहीं छोड़ सकता। बात सच है। परन्तु भारत की गति उलटी है। जब इसने ईश्वर को भी छोड़ दिया, मनुष्यता को भी त्याग दिया तब अन्य की चर्चा ही क्या। आपामर समझता है कि ईश्वर से बढ़कर मेरा कल्याणकारी कोई नहीं है। परन्तु यहां लोगों ने ईश्वर के लिये क्या किया? नाना पाखण्ड रचकर स्वयं ईश्वर बन बन कर अथवा नाना धूर्त्तता कर स्वार्थ के लिये ईश्वर की जगह में जिसी किसी की पूजा निकाल पूजने और पुजवाने लगे। ऐसे अधःपतित देश की चर्चा क्या।

स एष रसानाᳯ रसतमः परमः। परार्द्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः॥ ३॥

सः। एषः। रसानाम्। रसतमः। परमः। परार्द्ध्यः। अष्टमः। यत्। उद्गीथः॥ ३॥

(१) इस खण्ड के अन्त में इस शब्द के ऊपर समीक्षा देखो।

भाष्यम्—पूर्वोक्तमेवोपसंहरति । स एषः उद्गीथाख्य ओङ्कारः रसानां आनन्दानाम् । रसशब्दः आनन्दवाची । रसतमः अतिशयितो रसः रसतमः आनन्दघन इत्यर्थः रसो वै सः रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति इति तैत्तिरीयोपनिषद्वचनात् रसशब्देन ब्रह्माप्यभिधीयते क्वचित् । परमः यस्मात् किमपि परतरं नास्ति स परमः । पराद्ध्यः परञ्चतत् अर्द्धं स्थानं इति परार्द्धं तदर्हतीति परार्द्ध्यः परमपदमित्यर्थः । अष्टमः सामवेदस्य मुख्यतात्पर्यभूतः कोसौ ? यत् यः । अत्र छान्दसं नपुंसकत्वम् । उद्गीथः उद्गीथशब्दवाच्यः ईश्वरः । द्वितीयोर्थः—स एष ओङ्कारो रसानां पूर्वोक्तानां पृथिव्योषधिप्रभृतीनां मध्ये अतिशयितो रसो रसतमः । पुनः परमः उत्कृष्टः वर्णानां मध्ये गेयानां मध्ये वा परः । पुनः पराद्ध्यः परार्द्धं उत्कृष्टपदं अर्हतीति पराद्ध्यः उत्कृष्टवाचक इत्यर्थः । अष्टमः पृथिव्यादिरससंख्यायां अष्टमः । यदुद्गीथः यः ओङ्कारः यतोयमोङ्कारो रसिष्ठो ब्रह्मवाचकोस्ति अत एनं द्वारीकृत्य परमं ब्रह्मोपासीत ॥३॥

अनुवाद—सो यह उच्चैर्गीयमान ब्रह्म आनन्दों में परमआनन्द अथवा सम्पूर्ण रसों में अत्युत्तम रस, उत्कृष्ट, परमपूजनीय और सामवेद का सारभूत है । २—सो यह उद्गीथ ओङ्कार अक्षर रसों में उत्तम रस उत्कृष्ट, अत्युत्तमपद और संख्या में अष्टम अर्थात् सकल गेय वस्तु का सार है ।

पदार्थः—(यत्) जो (उद्गीथः) उद्गीथ शब्द वाच्य ब्रह्म है (स एषः) वह यह ईश्वर (रसानां) सम्पूर्ण रसों में (रसतमः) अत्युत्तम रस अर्थात् आनन्द है । यहां रस शब्द आनन्द वाचक है (परमः) जिससे पर न हो उस ब्रह्म को परम कहते हैं (पराद्ध्यः) और वह ब्रह्मवित् का परम प्रापणीय स्थान है (अष्टमः) तथा सामवेद का सारभूत है । २-(यत् उद्गीथः) जो उद्गीथ ओङ्कार अक्षर है (स एषः) वह यह (रसानां) सम्पूर्ण गेय पदार्थों के रसों में (रसतमः) अत्युत्तम रस है (परमः) गेय पदों में उत्कृष्ट (पराद्ध्यः) अत्युत्तम पद और (अष्टमः) पृथिव्यादि रस संख्या में आठवां है ॥ ३ ॥

भाष्याशयः—रसशब्द—यह शब्द कहीं २ ब्रह्म के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है जैसे (रसो वै सः इत्यादि) तैत्तिरीयोपनिषद् का प्रमाण है। उस का भाव यह है कि वह रस है। रस ही को पाकर यह जीवात्मा आनन्दमय होता है। सम्पूर्ण प्राणी को (यः रसयति आनन्दयति स रसः) जो आनन्दित करता है उसे रस कहते हैं। जगत् में जो कुछ रस है वह उस ब्रह्म का ही है। वह रसों का महासमुद्र होने के कारण रस नाम से पुकारा जाता है। यहां पर रस शब्द का प्रयोग विलक्षण, केवल स्वात्मग्राह्य और अनुभवगम्य अर्थ में हुआ है। सम्पूर्ण प्राणी रस की कामना करते हैं इसलिये महारस रसघन ब्रह्म की ओर रस शब्द के द्वारा उपनिषद् आकर्षण करती है।

अर्द्धशब्द–प्राचीन काल में यह अर्द्ध शब्द स्थानवाची होता था जैसे (परमे परार्द्धे) इत्यादि स्थल में अर्द्ध शब्द स्थान पद इत्यादि का वाचक है।

कतमाकतमर्क्कतमत्कतमत्साम कतमः कतम उद्गीथ इति विमृष्टं भवति ॥ ४ ॥

कतमा। कतमा। ऋक्। कतमत्। कतमत्। साम। कतमः। कतमः। उद्गीथः। इति। विमृष्टम्। भवति॥ ४॥

भाष्यम्–ऋक्सामोद्गीथशब्दाः श्लोकगीतिसामगेयमात्रे प्रयोगार्हत्वाद् अत्र किमर्थाः सन्तीति सन्देहव्युदासाय प्रश्नोत्तराभ्यां स्वयमेव उपनिषद् विशदयति। वाच ऋग् रस इति यदुक्तं तत्र प्रश्नो भवति। सा ऋग् कतमा ऋचां मध्ये सा कतमा ऋगस्ति ? ऋचः साम रस इति यदुक्तम्। तत्र कतमत् साम ? साम्नां मध्ये तत् कतमत् साम अभिप्रेयते ? एवं गेयवस्तूनां मध्ये कतम उद्गीथः ? इति पूर्वोक्तं विमृष्टं विमर्शो विचारो भवति। अत्र सर्वत्र द्विरुक्तिरादरार्था ॥ ४ ॥

अनुवाद— कौन २ सी ऋचा हैं ? कौन २ सा साम है ? कौन २ सा उद्गीथ (ओङ्कार) है इस का विचार होता है ॥ ४ ॥

पदार्थः-अब यह शङ्का होती है कि पूर्वोक्त द्वितीय मंत्र में ऋग्, साम, और उद्गीथ ये जो तीन शब्द आये हैं वे अन्य अर्थों में भी प्रयुक्त होते हैं। जैसे छन्दोबद्ध श्लोकमात्र को ऋक् और गानमात्र को साम और उद्गातृकर्तृक गान मात्र को उद्गीथ कह सक्ते हैं और कहते हैं। पुनः यहां कौन अर्थ लेना चाहिये ? इस शङ्का के निवारणार्थ प्रथम प्रश्न और उत्तर के द्वारा पूर्वोक्त अर्थ को संक्षेप से उपनिषद् परामर्श करती है। पहले कहा गया है कि वाक् का ऋग् (ऋचा) रस है यहां प्रश्न होता है (कतमा कतमा) कौन कौन (ऋक्) ऋचा है अर्थात् वह ऋचा कौनसी है। पुनः पहले कहा गया है कि ऋचा का साम रस है (कतमत् कतमत्) कौन कौन (साम) साम है ? अर्थात् वह कौन साम है। और इसी प्रकार गेय वस्तुओं के मध्य में (कतमः कतमः) कौन२ (उद्गीथः) ओङ्कार है। (इति) यह पूर्वोक्त। (विमृष्टम्) विचारित (भवति) होता है ॥४॥

वागेवर्क्प्राणः सामोमित्येतदक्षरमुद्गीथस्तद्वा एतन्मिथुनम्। यद्वाक्च प्राणश्चर्क् च साम च ॥ ५ ॥

वाक्। एव। ऋक्। प्राणः। साम। ओम्। इति। एतत्। अक्षरम्। उद्गीथः। तत्। वै। एतत्। मिथुनम्। यत्। वाक्। च। प्राणः। च। ऋक्। च। साम। च ॥ ५ ॥

भाष्यम्—उत्तरति यथा-वागेवऋग्। ईश्वरस्य परमकल्याणी या वेदवाणी सैव अत्र ऋग्। नान्या छन्दोबद्धा इत्यर्थः। अन्यापि छ-

न्दोबद्धा ऋग् भवतीति तन्निवारणार्थमुक्तिः । अथवा उच्चावचार्थ-प्रतिपादिका बहुविधा वेदेषु उपलभ्यन्ते ऋचः । आध्यात्मिकी या प्रशस्ता ब्रह्मवाग् वेदेषु वर्त्तते सैवात्र गृह्यते । यत अध्यात्मविद्यायाः प्रवृत्तिरेवोपनिषदां परं प्रयोजनम् । द्वितीयं प्रश्नं समाधत्ते । प्राणः साम ईश्वरस्य प्राणइव साम । यद्वा सामान्यपि वेदेषु सन्ति बहूनि । यत् सामगानं जीवान् प्राणयति जीवयति तत्साम ग्राह्यम् । शरीरार्थमन्नमिव आत्मनोभोजनं वैदिकसामगानमेव । यथा शरीरे प्राणाधीनं चक्षुरादिकरणानामस्तित्वं तद्वत् प्राणइव यत् साम वर्त्तते तद् ग्राह्यम् । प्राणस्य विशेषणत्वात् उपमानत्वाद्वायमर्थः । कारणगुणभाक् कार्यं दृश्यते । अतः परमकल्याण्या ब्रह्मवाण्याः कारणस्य कार्यं साम तदनुरूपमेव स्यात् । ईदृशः कारणस्य प्राणएव कार्यं भवितुमर्हति नान्यदित्यवधेयम् । अतः प्राणः साम इति समाधिः सम्यग् भाति । तृतीयं प्रश्नं समाधत्ते । ओमिति एतदक्षरमुद्गीथः । सर्वव्यापकं सर्वरक्षकं सर्वत्रभासमानम् एतदविनश्वरं ब्रह्मैव उद्गीथः उद्गीथशब्दवाच्यम् । अयमभिप्रायः । उच्चैर्गीयमानानामपि मध्ये विद्यन्ते बहूनि गेयानि । तत् कतमत् गेयं गृह्यते ? ओङ्कारएवाक्षरं नान्यत् इत्यर्थः । एतदेव अक्षरं पूर्वोक्तगुणविशिष्टस्य प्राणरूपस्य सामगानस्य रसो भवितुमर्हति । वै निश्चयेन तदेतत् वक्ष्यमाणं मिथुनं मिथुनसंज्ञकं भवति । यत् वाक्च प्राणश्चेति ऋक् साम च चेति एकश्चकारो वार्थः । वाक्शब्देन ऋचः प्राणशब्देन साम्नो ग्रहणं कर्त्तव्यम् । तेन वाक्च प्राणश्चेति मिथुनं कथ्यताम् अथवा ऋक्च साम चेति मिथुनं कथ्यताम् उभयोरेकएवाभिप्रायः । यद्वा । इदानीं ओऽङ्काराक्षरे धर्म्मद्वयं दर्शयितुमुपक्रमते । तद्वा एतत् मिथुनमिति । यत् एतत् वक्ष्यमाणं मिथुनं द्वन्द्वं वर्त्तते तत् किं मिथुनम् ? वाक् च प्राणश्च । इति एकं मिथुनम् । पुनः ऋक् च साम च द्वितीयं मिथुनम् एतत् उभयं मिथुनम् । तद्वै तदक्षरमेव तेनैव संबद्ध्यते इत्यर्थः । एतावता कोऽर्थलाभो जातः । सति प्राणे वाग् भवति । असति सा न भवति । सत्यां वाचि प्राणोनुमीयते । असत्यां नानुमीयते एवं परस्परमुभयं परस्परानु-

मापकंभवति । तथाच । सत्यामृचि साम अनुमीयते । सति च साम्नि ऋगनुमीयते । एवमेतदुभयं परस्परानुगमकं भवति । तदिह प्रकृते ओमित्येतस्मिन्नक्षरे धर्मद्वयं दर्शयति । तथाहि । विद्यमानयोर्वाक्-प्राणयोः ओऽङ्कारस्य गानं सम्भवति । गीयमाने च ओङ्कारे ऋक् च साम च अनुमीयते ॥

इदं ज्ञातव्यं भवति यत् यानि यानि छन्दोबद्धानि पद्यात्मकानि काव्यानि भवन्ति तेषां मुख्यं प्रयोजनं गानमेव । एवं गानात्मकानि वस्तूनि प्रायः पद्यान्येव भवन्ति । गद्यमपि गीयेत । नहि तत् सर्वगुणसम्पन्नं गानं भवति । एवं सति पद्यात्मकानि काव्यानि दृष्ट्वैव बुद्धिमन्तो जनाः अनुमास्यन्ति यत् इमानि गानार्थानि । एवमेव श्रुत्वा च गानानि इमानि अवश्यं पद्यानि अतएव गीयन्ते इत्यपि अनुमानं सुकरं भवति । इति दिक् । यस्मात् ओमितिशब्दः सामगैर्गीयते अत ऋक्सामयोरुभयोरपि धर्म्मोऽस्मिन् अनुमीयते इतराभावे इतरानुपपत्तेः ॥

यद्यपि सर्वा त्रयी प्रियाऽस्ति तथापि गेयं वस्तु प्रियतमं भवति । लोकेऽपि इयं व्यवस्था दृश्यते । छन्दोबद्धानि पदानि स्वभावतः एव मधुराणि भवन्तु नाम । तत्रापि गीयमानानि मधुरतमानि भवन्ति यदाच ओऽङ्कारः ऋग् रूपो भवति तदापि प्रियो भवति सामरूपस्तु स एव मधुरतमो भवति इत्थं उभयधर्मावलम्बी ओमिति शब्दः ॥ ५ ॥

अनुवाद—ईश्वर की वाणी ही ऋग्वेद है । ईश्वर के प्राण समान सामवेद है और यह सर्वव्यापक, सर्वरक्षक, अविनश्वर, ईश्वर ही उद्गीथ है जो यह वाक् और प्राण, ऋक् और साम युगल हैं ये उसी अक्षर से सम्बन्ध रखने वाले हैं । अथवा वाक् और प्राण या ऋक् और साम मिथुन कहलाते हैं ॥ ५ ॥

पदार्थः—(वागेव ऋग्) ईश्वर की वाणी ही ऋग्वेद है (प्राणः साम) ईश्वर के प्राण समान सामवेद है (ओम् इति) सर्वरक्षक (एतत्) सर्वत्र

भासित यह (अक्षरम्) अविनश्वर ब्रह्म ही (उद्गीथः) उद्गीथ है। अर्थात् यहां ऋक् से ईश्वर वाणी, साम से प्राण समान सामवेद और उद्गीथ शब्द से अविनश्वर, अजर, अमर, सर्वरक्षक, ब्रह्म समझना चाहिये (तद्वा एतत्) वह यह (वक्ष्यमाण) निश्चय (मिथुनम्) मिथुन है (यत्) जो (वाक् च प्राणश्च) वाक् और प्राण है (च) अथवा (ऋक्च साम) ऋक् और साम है। इन दोनों की मिथुन संज्ञा है। यद्वा (यत्) जो (वाक् च) वाणी (प्राणश्च) और प्राण (एतन्मिथुनम्) यह मिथुन युगल हैं (च) अथवा (ऋग् साम च) ऋग्वेद और सामवेद यह जो मिथुन हैं ये दोनों (तद्वै) निश्चयकर वही अक्षर है अर्थात् वाणी वा प्राण ऋक् वा साम उसी अक्षर ब्रह्म से सम्बन्ध रखता है। इस विषय को स्वयं उपनिषद् आगे बतलावेगी ॥ ५॥

भाष्याशयः–अब क्रमशः तीनों प्रश्नों के उत्तर दिये जाते हैं। १–वाक् ही ऋचा है। ईश्वर की परम कल्याणी जो वेदवाणी है वही यहां ऋचा है। अथवा वेदों में सकल पदार्थों के निरूपण करने वाली विविध प्रकार की ऋचाएं हैं। परन्तु यहां अध्यात्म सम्बन्धी जो वेद में कल्याणी वाणी (वाक्) हैं उसका ग्रहण करना चाहिये क्योंकि अध्यात्मविद्या की प्रवृत्तिही उपनिषदों का परम प्रयोजन है। अन्य छन्दोबद्ध पद भी ऋक् कहला सकता है। इस शङ्का के निवारण के लिये ईश्वर की वाणी ही ऋक् कही गई है।

२—प्राण साम है। ईश्वर के प्राण समान सामवेद का यहां ग्रहण है अथवा सामगान भी वेदों में बहुत है। परन्तु जो सामगान जीवों को आनन्द देने वाला है उसका ग्रहण करना चाहिये अतः यहां प्राण शब्द का प्रयोग किया गया है (प्राणयति आनन्दयति भूतानि) इस व्युत्पत्ति से प्राण शब्द की सिद्धि होती है जैसे इस शरीर का भोज्य अन्न है वैसे ही इस आत्मा का भी भोजन वैदिक सामगान है अथवा जैसे इस शरीर में प्राण के अधीन नेत्र आदि इन्द्रियों का अस्तित्व है वैसे प्रिय प्राण समान आत्मवशीकरण साम का ग्रहण है क्योंकि यहां प्राण शब्द से उपमा देने के कारण यह अर्थ घटता है। और कारण के गुण कार्य्य में आते हैं ऐसा नियम है। इस के अनुसार परम कल्याणी जो ब्रह्मवाणी रूप कारण है उसका

कार्य्य भी तद्गुण सहित ही होगा ऐसे कारण का कार्य्य अवश्य प्राण ही हो सकता है अन्य नहीं ! अतः यहां प्राण साम है यह बहुत ठीक कहागया है।

३-ओम् यह अक्षर ही उद्गीथ है। सर्वव्यापक, सर्वरक्षक, सर्वत्रभासमान यह अविनश्वर ब्रह्म ही उद्गीथ है इसी का ग्रहण करना चाहिये । अथवा उच्चसे गेय गान भी वेदों में बहुत है। यहां कौन गेय लेवें ? जो यथार्थ में उस का रस हो सकता है। उस प्राण रूप सामका यथार्थ रस ओङ्कार ही हो सकता है अन्य नहीं ॥

मिथुनसंज्ञाविधान— यह वाक् और प्राण अथवा ऋक् और साम मिथुन कहलाता है अर्थात् वाक् और प्राण कहिये अथवा इन दोनों की जगह में ऋक् और साम कहिये इन दोनों का अभिप्राय एक ही है। वाक् शब्द ऋग्वेद वाची और प्राण शब्द सामवेद वाची होने से इन दोनों का एक अभिप्राय है । यद्वा अब ओंकार रूप अक्षर में दो प्रकार के धर्म्म दिखलाने के लिये आगे का प्रकरण कहा जाता है अर्थात् वचन (वाग्) और प्राण ये दोनों मिलकर एक मिथुन (जोड़ा) कहलाता है। मिथुन इस कारण कहलाता है कि जब तक प्राण रहता है तब तक वचन । प्राण के अभाव से वचन का भी अभाव होता है। अब इस की प्रतिकूल रीति से संगति यह है कि वचन रहते हुवे प्राण का अनुमान और वचन के अभाव से प्राण का अभाव समझा जाता है । इस प्रकार परस्पर दोनों एक दूसरे का अनुमापक है। इसी प्रकार ऋक् और साम एक मिथुन कहलाता है। क्योंकि ऋचा से साम का और साम से ऋचा का अनुमान होता है यह भी परस्पर अनुमापक है। अर्थात् यह दोनों द्वन्द्व एक दूसरे के अधीन हैं । यह मिथुन केवल उसी ब्रह्म से सम्बन्ध रखता है और यह ओङ्कार अक्षर में भी पाया जाता है। क्योंकि वाक् और प्राण की अस्तित्व रहने से ही ओङ्कार का जैसा उच्चारण होना चाहिये सो होता है अतः ओङ्कार के उच्चारण के लिये वाक् और प्राण दोनों की आवश्यकता है एवं ओङ्कार के गाने के समय ऋग् और साम इन दोनों के अनुमान होने से ओङ्कार अक्षर में इन दोनों मिथुनों का समावेश कहा गया है।

यहां पर ऐसा जानना चाहिये कि छन्दोबद्ध जो जो पद्यात्मक काव्य होते हैं उनका मुख्य प्रयोजन गान ही है । प्रायः गाने की चीज़ें पद्यात्मक ही होती हैं । यद्यपि गद्य को भी गा सकते हैं परन्तु वह गान सर्वगुण सम्पन्न नहीं हो सकता अथवा इस को यों भी समझना चाहिये कि पद्य होने से ही उस में एक प्रकार की मधुरता आ जाती है । गान का भी यही अभिप्राय है । इस व्यवस्था के अनुसार बुद्धिमान् आदमी पद्यात्मक काव्य को देखकर ही अनुमान कर सकते हैं कि यह गाने के लिये है । इसी प्रकार गान सुनकर बुधजन यह भी अनुमान कर सकते हैं कि यह अवश्य पद्यात्मक है । यह अनुमान बहुत सहज है । जिस कारण ओम् यह शब्द गाया जाता है इसलिये इस में ऋक् और साम दोनों के धर्म (गुण) पाये जाते हैं । यदि ओङ्कार ऋचा नहीं रहता तो इसका गान उत्तम नहीं होता जिस कारण इसका गान उत्तम होता है अतः इस ओङ्कार में दोनों धर्म हैं यह सिद्ध हुआ ।

यहां वाक् और प्राण शब्द का प्रयोग बहुत विलक्षण है ईश्वर के साथ वाक् (वाणी) थी वही सृष्टि की आदि में ऋषियों के द्वारा ऋक् रूप धारण करके विनिःसृत हुई । अतः वाक् ईश्वरास्थित वाणी ऋचाओं का कारण है यह भी कह सकते हैं और प्राण शब्द उच्चारण के जो विविध स्पृष्ट ईषत्स्पृष्ट महाप्राण अल्पप्राणादि प्रयत्न कहे गये हैं उन अर्थों में भी आता है । इससे यह सिद्ध होता है कि सामगान के लिये प्राण ही (नाना उच्चारण प्रयत्न) कारण है । अतएव १—वाक् और प्राण अर्थात् मधुरवाणी और विविध उच्चारण प्रयत्न मिथुन हैं क्योंकि गान में इन दोनों की आवश्यकता है । २—एवम् ऋक् के अन्तर्गत ही साम है अतः ऋक् और साम भी मिथुन हैं ॥

इस मन्त्र में ऋक्, साम और उद्गीथ इन तीनों के ही विषय में निर्णय किया गया है । परन्तु प्रकरण में पृथिवी, जल, ओषधि, पुरुष, वाक् भी आते हैं और ये भी अनेकार्थक हैं फिर इनके निर्णय क्यों नहीं किये गये ? इस का उत्तर यह है कि उपनिषद् का परमप्रयोजन ब्रह्मसाधन है । वह ऋक्, साम, उद्गीथ इन तीनों से ही साधनीय है अन्य से नहीं । अतएव यहां ऋक्

पद से सम्पूर्ण कर्मकाण्ड का और सामपद से उपासना, ज्ञान आदि का ग्रहण कर लेना चाहिये और इन दोनों के परमप्रतिपाद्य उद्गीथ से परब्रह्म का । अतएव (ओमित्येतदक्षरमुद्गीथः) यह पद उपनिषद् में विस्पष्ट कहा गया है अर्थात् अविनश्वर, सर्वरक्षक, परात्पर, परब्रह्म ही सबों का साध्य है यह सूचित होता है इस प्रकरण में ओम् और अक्षरशब्द दो २ अर्थ में आये हैं इसका सदा ध्यान रखना चाहिये ।

तदेतन्मिथुनमोमित्येतस्मिन्नक्षरे सꣳसृज्यते ॥ यदा वै मिथुनौ समागच्छत आपयतो वै तावन्योन्यस्य कामम् ॥ ६ ॥

तत् । एतत् । मिथुनम् । ओम् । इति । एतस्मिन् । अक्षरे । संसृज्यते । यदा । वै । मिथुनौ । समागच्छतः । आपयतः । वै । तौ । अन्योन्यस्य । कामम् ॥ ६ ॥

भाष्यम्—पूर्वोक्तं स्पष्टयति—तत् पूर्वोक्तमृग्सामरूपमेतन्मिथुनं द्वन्द्वं ओमिति एतस्मिन्नक्षरे परमे ब्रह्मणि संसृज्यते । संयुक्तं भवति निखिलवेदतात्पर्यं ब्रह्मणि एव पर्य्यवसितं वेदितव्यम् । वै इति निश्चयेन यदा मिथुनौ स्त्रीपुंसौ प्रेम्णा समागच्छतः संगतौ भवतः । तदा वै तौ स्त्रीपुंसौ अन्योन्यस्य परस्परस्य कामं अभीष्टं आपयतः पूरयतः । तथैव यदा ओङ्काराक्षरं द्वारीकृत्य जीवात्मा परमात्मना सह संगच्छते तदा अन्योन्यस्य कामः पूर्य्यते । परमात्मा तु जीवात्मानं आज्ञाकरमवलोक्य प्रसीदति । जीवात्मा च अभीष्टदेवतां स्वीयां लब्ध्वा कृतकृत्यो भवति । अयं योगोपि तदा भवति यदा ओङ्कारस्य यथार्थं विदित्वा उपासकाः परमात्मानं

उच्चैर्गायन्ति । अथवा यदा च ब्रह्मवित् सम्पूर्णस्य ऋक्सामरूपस्य मिथुनस्य तात्पर्यं ब्रह्मणैव सार्द्धं संघटयति। तदा अन्योन्यस्य ब्रह्मणो वेदस्य च यथार्थतात्पर्यस्य आप्तिः । प्राप्तिर्भवति ॥ ६ ॥

अनुवाद—वह यह मिथुन (ऋक् साम,वाक् प्राण रूप) इस व्यापक अविनश्वर ईश्वर में संयुक्त है । निश्चय जब दो मिथुन संयुक्त होते हैं तबही वे दोनों एक दूसरे के काम की पूर्त्ति करते हैं ॥ ६ ॥

पदार्थः—(तत्) वह (एतत्) यह (मिथुनम्) युगल अर्थात् ऋग् और साम, वाक् और प्राण रूप मिथुन (ओमिति एतस्मिन्नक्षरे) ओं इस अक्षर में अर्थात् परब्रह्म में (संसृज्यते) संयुक्त है। अर्थात् निखिल वेद का तात्पर्य केवल ब्रह्म से ही है ऐसा जानना चाहिये । (यदा) जब (वै) निश्चय (मिथुनौ) युगल अर्थात् स्त्री और पुरुष (समागच्छतः) प्रीति से संगत एकत्रित होते हैं तब (वै) निश्चय (तौ) वे दोनों (अन्योन्यस्य) एक दूसरे के (कामम्) कामको (आपयतः) पूर्ण करते हैं ॥ ६ ॥

भाष्याशयः—जैसे स्त्री और पुरुष परस्पर प्रीति से युक्त रहने पर संसार में बहुत सुख भोगते हैं वैसे ही जब जीवात्मा ओङ्कार को द्वार बनाकर परमात्मा के साथ संयुक्त होता है तब दोनों का काम पूर्ण होता है । परमात्मा जीवात्मा को आज्ञाकारी देखकर प्रसन्न होता है। और जीवात्मा अपने अभीष्ट देवता को पाकर कृतकृत्य हो जाता है सो यह योग तबही होता है जब उपासक ओङ्कार के यथार्थ को समझता हुआ परमात्मा का गान करता है। अथवा जब ब्रह्मवित् सम्पूर्ण ऋक् साम रूप मिथुन के तात्पर्य को ब्रह्म के साथ ही घटाता है तब ही ब्रह्म और वेद दोनों के यथार्थ तात्पर्य की प्राप्ति होती है॥ ६॥

आपयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ॥ ७ ॥

आपयिता । ह । वै । कामानाम् । भवति । यः । एतत् । एवम् । विद्वान् । अक्षरम् । उद्गीथम् । उपास्ते ॥ ७ ॥

भाष्यम्—प्ररोचनार्थं फलं दर्शयति । यः उपासकः एतदक्षरं । सर्वत्रभासमानं विनाशरहितं । उद्गीथं ब्रह्म । एवम् । असुना प्रकारेण । विद्वान् विदन् सन् । विदेःशतुर्वसुः इति शतुर्वसुरादेशो भवति । जानन्नित्यर्थः । उपास्ते भावयति । स ह वै । स एव कामानाम् । अभीष्टानाम् । आपयिता । पूरयिता भवति ॥ ७ ॥

अनुवाद—जो इस अविनश्वर उद्गीथ को इस प्रकार जानता हुआ उस की उपासना करता है वह सकल कामनाओं का (आपयिता) प्रापक होता है ॥ ७ ॥

पदार्थः-(यः) जो (एतत्) इस (अक्षरम्) अविनश्वर (उद्गीथम्) ब्रह्म को (एवम्) इस प्रकार (विद्वान्) (१) जानता हुआ (उपास्ते) उस की उपासना करता है । वह (वै) निश्चय (कामानाम्) मनोरथों का (आपायिता) प्रापक अर्थात् पहुंचाने वाला होता है (ह) यह बात प्रसिद्ध है ॥ ७ ॥

भाष्याशयः-मनुष्यों के प्ररोचनार्थ यह फल कहा गया है। यथार्थ में ब्रह्मवित् ही यजमान के सकलमनोरथों की पूर्त्ति कर सकता है अन्य नहीं ॥७॥

तद्वा एतदनुज्ञाक्षरम् । यद्धि किञ्चानुजानात्योमित्येव । तदाहैषो एव समृद्धिर्यदनुज्ञा । समर्द्धयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ॥ ८ ॥

तत् । वै । एतत् । अनुज्ञाक्षरम् । यत् । हि । किञ्च । अनुजानाति । ओम् । इति । एव । तत् । आह । एषा । उ । एव । समृद्धिः । यत् । अनुज्ञा । समर्द्धयिता ।

(१) विद्वान् शब्द में विद् धातु से शतृ प्रत्यय है

ह । वै । कामानाम् । भवति । यः । एतत् । एवम् । विद्वान् । अक्षरम् । उद्गीथम् । उपास्ते ॥ ८॥

भाष्यम्—प्रसंगात् अन्यमप्यर्थं दर्शयितुं प्रवर्तते ग्रन्थः । बृहदारण्यकोपनिषदि—कत्येव देवा याज्ञवल्क्यइति ? । त्रयस्त्रिंशत् । ओमिति होवाच । कत्येवदेवा याज्ञवल्क्य इति ? । षट् । ओमिति होवाच । पुनः । अनुशिष्टोऽन्वासि पित्रा इति ? । ओमिति होवाच । इत्यादिस्थलेषु ओङ्कारशब्दोनुज्ञार्थो भवति । लोकेपि अनुज्ञायामयं शब्दः प्रयुज्यते । तवेदं पुस्तकमहं गृह्णानि ? ओमिति स कथयति । अर्थात् ग्रहीतुं निजामनुमतिं ददाति । गृहाण इति । कच्चित्त्वं व्याकरणं जानासि ? । ओमिति । अहं व्याकरणं जानामीति स स्वीकरोति । तदा एतद् । ओङ्काराक्षरम् । अनुज्ञाक्षरम् । अनुज्ञा च सा अक्षरञ्च तदनुज्ञाक्षरम् । अनुमतिप्रदानार्थं प्रयुज्यते । हि यतः । यत् किञ्च । यत् किञ्चित् अनुजानाति अनुमतिं करोति । तदा अनुज्ञासमये ओमित्येव ओमित्यक्षरमेव । आह । कथयति । एषा उ एव समृद्धिः यदनुज्ञा । या अनुज्ञा अत्र छान्दसं नपुंसकत्वम् । या एषा अनुज्ञा सा एव समृद्धिः । उदारता ।

अत्रेदं विचारणीयम् । सत् कर्मानुष्ठातुं प्रत्यहम् एतेनाक्षरेण ईश्वरो जीवान् स्मारयति । यदा च वयमोमित्यक्षरं वाचा उच्चारयाम । तदा मनसा ईश्वरस्य वैदिकी अनुज्ञा स्मर्तव्या । कर्मणा च सा संपादनीया । जीवेषु ईश्वरस्य महती कृपा यदनुज्ञां करोति इत्यपि मनसा ध्यातव्यम् । तदैव वयं समृद्धिमन्तो भविष्याम इति । यः पुरुषः । एतद् उद्गीथमक्षरमेवं विद्वान् । एवं जानन् सन् उपास्ते स एव कामानां । मनोरथानां समर्द्धयिता । सम्यग् वर्द्धयिता भवति हेति प्रसिद्धम् ।

ओङ्कारस्य द्वावर्थौ जातौ । अनुज्ञा स्वीकृतिश्च । तेन वैदिकी आज्ञा पालनीया तथा ईश्वरस्य यो महती कृपा अस्मदा-

दिषु वर्तते सा स्वीकरणीया । इत्युभयमर्थमोङ्कारशब्देन भावयेत । अथवा ईश्वरस्य सकाशात् आज्ञा । स्वस्य सकाशात् स्वीकृतिरित्यर्थद्वयमोङ्कारेण चिन्तयेत् । यथा ईश्वरः आज्ञापयति मागृधः कस्यस्विद्धनम् । ओमिति नाहं गर्धिष्यामि इति स्वीकृतिः कर्त्तव्या इति संक्षेपतः ॥ ८ ॥

अनुवाद—वह यह ओङ्कार अक्षर अनुज्ञाक्षर है क्योंकि जब मनुष्य अनुमति देता है तब ओम् इसी पद को कहता है। और जो यह अनुज्ञा है वही समृद्धि परम अनुग्रह है। वह ब्रह्मवित् निश्चय कामनाओं का समर्द्धयिता (प्रवर्द्धक) होता है जो इस उद्गीथ अक्षर को इस प्रकार जानता हुआ उपासना करता है। यह बात प्रसिद्ध है ॥ ८ ॥

पदार्थः—(तद्वा एतत्) निश्चय वह यह ओङ्कार अक्षर (अनुज्ञाक्षरम्) अनुज्ञा अक्षर है अर्थात् अनुमति देने के अर्थ में उसका प्रयोग होता है। (यत् हि किञ्च) क्योंकि जब मनुष्य कुछ (अनुजानाति) अनुमति आज्ञा देता है। (तदा) तब (ओमित्येव) ओम् इसी पद को (आह) कहता है । (एषा उएव) यही (समृद्धिः) समृद्धि अर्थात् परम अनुग्रह है (यद् अनुज्ञा) जो अनुज्ञा अर्थात् अनुमति देना वा करना है। एक प्रकार की यह महती कृपा है। वह साधक (कामानाम्) कामनाओं के (समर्द्धयिता वै) निश्चय और सम्यक् रीति से बढ़ाने वाला (भवति) होता है (ह) यह प्रसिद्ध है (यः) जो (एतत) इस (अक्षरं उद्गीथम्) उद्गीथ अक्षर को (एवं विद्वान) इस प्रकार जानता हुआ (उपास्ते) भावना करता है ॥ ८ ॥

भाष्याशयः—ओङ्कार के अनेक अर्थ होते हैं प्रसंग से अन्य अर्थ को दिखलाता हुआ उसके मुख्य तात्पर्य से ईश्वर की आज्ञा सूचित करता हुआ ग्रन्थ आरम्भ होता है। यह ओंकार अक्षर अनुज्ञा (आज्ञा) अर्थ में आता है। उदाहरण से विस्पष्ट होगा अतः दो उदाहरण यहां लिखते हैं:—

बृहदारण्यक उपनिषद् के शाकल्य और याज्ञवल्क्य के संवाद में यह प्रसंग आया है कि शाकल्य ऋषि याज्ञवल्क्य ऋषि से पूछते हैं कि "कत्येव देवा याज्ञवल्क्य इति ?" हे याज्ञवल्क्य ! देव कितने हैं ? याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं ।

"त्रयस्त्रिंशत्" तैतीस । अर्थात् ३३ देव हैं । इसके बाद शाकल्य कहते हैं कि—ओम् । हां । अर्थात् ठीक । आपका कथन ठीक है । इसको मैं स्वीकार करता हूं । पुनः श्वेतकेतु और राजा प्रवाहण के संवाद में आया है "अनुशिष्टोन्वसि पित्रा इति" राजा प्रवाहण श्वेतकेतु से पूछते हैं कि क्या तुमको पिताने शिक्षा दी है इस के उत्तर में श्वेतकेतु कहता है । "ओम्,, हां । अर्थात् आर्य्यभाषा में जहां हांजी शब्द और अंग्रेज़ी में (yes) आदि शब्द कहते हैं वहां संस्कृत में ओम् कहने की परिपाटी थी वा अब भी है । जैसेः—

"तव इदं पुस्तकं गृह्णानि" । क्या तेरी इस पुस्तक को मैं ग्रहण करूं "ओम्" हांलो । यह पुस्तक वाले का उत्तर होगा। कच्चित्त्वं व्याकरणं जानासि । क्या तू व्याकरण जानता है ? "ओम्" जी मैं जानता हूं । यह उत्तर व्याकरण जानने वालेका होगा। इन स्थानों में यथार्थ अर्थ देखें तो ओ३म् शब्द का अर्थ स्वीकार और आज्ञा देना दो अर्थ देखने में आते हैं । इस अर्थ के वर्णन से यहां क्या भाव है ? । यह ओङ्कार ईश्वर की आज्ञा स्वरूप है । ईश्वर सत्कर्म्म के अनुष्ठान के लिये ओङ्कार अक्षर रूप आज्ञा के द्वारा जीवों को स्मरण करवाता है । अतः जब हम लोग ओङ्कार अक्षर का वाणी के द्वारा उच्चारण करें तब ईश्वर की आज्ञा का स्मरण । और कर्म द्वारा उस का आज्ञा पालन करें और ईश्वर की जो मनुष्यों पर महतीकृपा है इस को स्वीकार करें । येही दो भाव ओङ्कार यहां बतलाता है । जैसे ईश्वर की आज्ञा होती है कि (मागृधः कस्यस्विद्धनम्) किसी के धन का लालच मत करो । इस आज्ञा को ओम् कहकर स्वीकार करें कि हे भगवन् इस तेरी आज्ञा को मैं स्वीकार करता हूं । मैं किसी के धन की लिप्सा नहीं करूंगा । इस प्रकार मन के द्वारा समझे कि ईश्वर सदा मुझे आज्ञा देता है और मैं ओम् २ अर्थात् हां हां कह कर स्वीकार करता हूं तब ही मनुष्य समृद्धिमान् हो सकता है । इस में सन्देह नहीं जो इस के भाव को समझेगा वह सकल कामनाओं का पूरा करने वाला होगा ॥ ८ ॥

तेनेयं त्रयी विद्या वर्तते ओमित्याश्रावय-त्योमिति शꣳसत्योमित्युद्गायत्येतस्यैवाक्षरस्या-पचित्यै महिम्ना रसेन ॥ ९ ॥

तेन । इयम् । त्रयी । विद्या । वर्त्तते । ओम् । इ-ति । आश्रावयति । ओम् । इति । शंसति । ओम् । इति । उद्गायति । एतस्य । एव । अक्षरस्य । अप-चित्यै । महिम्ना । रसेन ॥ ९ ॥

भाष्यम्—तेन । पूर्वोक्तेन ओङ्काराक्षरेण सह । इयं त्रयी विद्या । ऋग्यजुःसामलक्षणा । वर्त्तते । विद्यते । प्रारभ्यते । धातूनामनेकार्थत्वात् वृतेः प्रारम्भार्थो गृह्यते । ओङ्कारोच्चारणपूर्वकं वेदमारभन्ते ऋत्विज इत्यर्थः । यद्वा तेन । ओङ्काराभिधेयेन ब्रह्मणा हेतुना इयं त्रयी विद्या वर्त्तते । यद्वा । तेनाक्षरेण समन्विता त्रयी वर्त्तते । मन्त्राणां सर्वेषामादावन्ते च तस्योच्चारणादिदमवगम्यते । तदेवदर्शयति । कोपि बह्वृचः ओमिति पदं सोमयागे । आश्रावयति । आसमन्तात् समुपस्थितान् विदुषो श्रावयति । निशामयति । यद्वा । ओम् ब्रह्मणः एव व्याख्यानम् उपस्थितान् जनान् श्रावयति । अन्योध्वर्युरोमिति ब्रह्म शंसति । स्तौति । अपर उद्गाता ओमिति पदं उद्गायति । उच्चैर्गायति ।

अयमभिप्रायोस्ति । सोमयागादौ न केवलं सर्वे ऋत्विजो वैदिका वा ओङ्कारमेव उच्चैर्घोषयन्ति आवर्तयन्ति वा । किन्तु सकलमन्त्रादावन्ते च तदक्षरमावर्तयन्ति । तेन ओङ्कारस्यैव मुख्यता प्रतीयते । नैतावता ज्ञातव्यं यत् ओमिति वर्णात्मकं पदमभिप्रेतं वर्त्तते तस्यैव वा सर्वत्र स्तुतिर्विधीयत इति । किन्तु तेनाक्षरेण ब्रह्मैव सर्वत्र लक्षणीयम् । तथाहि एतस्य । सर्वत्रैव विद्यमानस्य अस्य अक्षरस्य । अविनश्वरस्य

ब्रह्मण एव । अपचित्यै पूजायै तस्यैव महिम्ना तस्यैव रसेन । ब्रह्मणो महत्त्वेन आनन्दरसात्मकत्वेन हेतुना मनुष्यास्तत्तत्क्रियामनुतिष्ठन्तीति बोध्यम् ।

ननु प्रकरणात् प्रकृतमोमिति वर्णात्मकं यदक्षरं तस्यैवेयं स्तुतिर्वर्त्तते । ननु तदक्षरप्रतिपाद्यस्य ब्रह्मणः इति । नहि भो महारम्भा इयमुपनिषद् केवलमक्षरं प्रस्तोतुमुपक्रमेत । तदक्षरं द्वारी कृत्य ब्रह्मण एव महत्त्वं प्रतिपादयितुं प्रवृत्तेयमुपनिषद् केवलवर्णात्मकां शब्दव्याख्यानेन स्वसिद्धान्तात् प्रच्युता भवेत् । अपचितिशब्दस्य पूजार्थत्वात् ब्रह्मण एव पूज्यत्वाभिप्रायोऽभीष्टः खलु । सच केवलस्य अक्षरस्यापचितिविधानेन व्याहन्येत । अतोत्र ब्रह्मवाचिना अक्षरेण भवितव्यम् । इत्थं महिम्ना रसेन इति पदद्वयमपि तस्मिन् संगच्छते प्रकरणमपि सम्पूर्णं ओमिति पदं द्वारी कृत्य ब्रह्मैवोपलक्षयति । ये खलु वर्णात्मकमक्षरमेवोद्दिश्य एतानि पदानि व्याचक्षते ते भ्रान्ताएव प्रतीयन्ते ॥ ९ ॥

अनुवादः—उससे त्रयी विद्या आरम्भ होती है । ओम् इसी पद की व्याख्या करते हैं । ओङ्कार ही की प्रशंसा करते हैं । और ओङ्कार ही को गाते हैं। इसी अक्षर की पूजा के लिये इसीको महिमा से और इस के ही रस से युक्त होकर (मनुष्य कर्म्म में प्रवृत्त होता है) ॥ ९ ॥

पदार्थः- (तेन) उसी अक्षर के साथ (इयम्) ये त्रयी विद्याऐं (वर्त्तते) हैं (ओमिति) ब्रह्म वा ओम् अक्षर को ही (आश्रावयति) होता सुनाते हैं (ओमिति) ब्रह्म वा ओङ्कार अक्षर की ही (शंसति) अध्वर्यु स्तुति करते हैं (ओमिति) ओङ्कार का ही (उद्गायति) उद्गाता गान करते हैं (एतस्य एव) ये सब क्रियाएं इसी (अक्षरस्य) अविनश्वर ईश्वर की (अपचित्यै) अपचिति अर्थात् पूजा के लिये होती है । उसी की (महिम्ना) महिमा से और उसी के (रसेन) आनन्द से मनुष्यों की प्रवृत्ति कर्म में होती है ऐसा जानना चाहिये ॥ ९ ॥

भाष्याशयः-१—संस्कृत में (वर्त्तते) पद है । धातु के अनेक अर्थ होते हैं । अतः यहां उसका अर्थ आरम्भ है । प्रकरण के अनुसार यही अर्थ सुसंगत होता है । इस कारण यह अर्थ हुआ कि उस ओङ्कार अक्षर से त्रयी विद्या अर्थात् ऋग् यजुः और साम रूप तीनों विद्याएं आरम्भ होती हैं। अर्थात् ऋत्विज लोग प्रथम ओङ्कार को उच्चारण करके ही उन्हें उच्चारण करते हैं। २—अथवा उस ओङ्कार अक्षर का लक्ष्य जो ब्रह्म है उसके द्वारा तीनों विद्याएं (वर्त्तते) विद्यमान हैं । अर्थात् उस ब्रह्म के कारण से ही तीनों विद्याओं की विद्यमानता है । ३—यद्वा उस अक्षर से युक्त ही तीनों विद्याएं हैं क्योंकि सब मन्त्रों के आदि और अन्त में प्रथम उसका उच्चारण होता है। इससे ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण ऋग्, यजु, साम और अथर्व ओङ्कार युक्त हैं। इस अर्थ में युक्त पद का अध्याहार करना चाहिये । ४-यद्वा उस ओङ्कार अक्षर से अर्थात् उस ओङ्कार अक्षर की सहायता से ही तीनों विद्याएं कर्म में (वर्तते) वर्त्तती हैं । कर्म्म में उनकी उपयोगिता होती है । यदि प्रथम ओङ्कार का उच्चारण न हो तो कर्म्म करने में तीनों विद्याओं की प्रवृत्ति नहीं होता क्योंकि ओङ्कार मुख्य नाम होने के कारण प्रथम इसका उच्चारण करना आवश्यक है। ऋषि लोग ऐसे ही करते आये हैं (१) अतः जबतक इसका उच्चारण नहो तबतक त्रयी विद्या की प्रवृत्ति नहीं होती । कर्मपद यहां अध्याहृत है ।

आगे इसी को विस्पष्ट करती है सोमयाग में कोई ऋग्वेदी ओम् इस पद को (आश्रावयति) उपस्थित विद्वानों को सुनाते हैं। कोई अध्वर्यु ओम् इस पद की प्रशंसा करते हैं । कोई उद्गाता ओम् इस पद को उच्च स्वर से गाते हैं। इस प्रकार आश्रावण प्रशंसन और उद्गायन क्रमशः ऋग्वेदी यजुर्वेदी सामवेदी करते हैं। इस का अभिप्राय यह है कि सब ऋत्विग् मिलकर केवल ओङ्कार अक्षर की ही घोषणा वा आवृत्ति नहीं करते हैं किन्तु सकल मंत्रों की आदि में ओङ्कार अक्षर की आवृत्ति करते जाते हैं। इस से ओङ्कार अक्षर की ही मुख्यता प्रतीत होती है।

(१) ब्रह्मणः प्रणवं कुर्य्यादादावन्त्ये च सर्वदा मनु २ । ७४ ॥

इस से यह नहीं समझना चाहिये कि वर्णात्मक ओङ्कार शब्द का ही केवल अभिप्राय यहां है। किन्तु ब्रह्मवाची ओङ्कार का ही यहां ग्रहण करना चाहिये। यद्वा सोम यागादिओं में होता, अध्वर्यु और उद्गाता आदि ऋत्विग् उसी ब्रह्म के यथार्थ तात्पर्य को दिखलाते हुए अपने २ कर्म में प्रवृत्त होते हैं। इन्हीं विषयों को आगे उपनिषद् दिखलाती है। जैसे (इसी अक्षर की पूजा के लिये) यहां अक्षर शब्द का अर्थ अविनश्वर अचल निर्विकार ब्रह्म है। सर्वत्र विद्यमान उस ब्रह्म की पूजा के लिये ही उस ईश्वर की महिमा के वशीभूत होकर और उस ब्रह्मानन्द रूप से मोहित होकर मनुष्य कर्म्म में प्रवृत्त होता है ऐसा अर्थ जानना चाहिये। इति ॥

शङ्का होती है कि प्रकरण के अनुसार यहां ओङ्कार जो वर्णात्मक अक्षर है उसी का ग्रहण होना चाहिये। परन्तु आप अक्षर शब्द से ब्रह्म का ग्रहण करते हैं सो ठीक नहीं और उपनिषद् का भी अभिप्राय यही विदित होता है। क्योंकि उसी अक्षर की स्तुति वा पूजा कही गई है न कि ब्रह्म की। और महिमा वा रस शब्द का भी यह अर्थ है कि ओङ्कार शब्द की यह महिमा है ऋत्विग् लोग प्रथम तो ओङ्कार को उच्चारण कर तब अन्य मन्त्रों को पढ़कर अग्नि में हव्य द्रव्यों को होमते हैं। यदि ओङ्कार का उच्चारण न हो तो होम भी न हो अतः ओङ्कार शब्द की ही यह महिमा है कि होम होता है। और "अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यग् आदित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिः वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः"।

अग्निमें होमा हुआ द्रव्य आदित्य लोकमे प्राप्त होता है। आदित्य से वृष्टि होती है। वृष्टि से अन्न होता है। अन्न से प्रजा होती है। इस कारण होम के द्वारा जो विविध अन्न ओषधिरूप रस उत्पन्न होते हैं उन्हीं से होम होता है। यह सब ओङ्कार की ही महिमा है। इस कारण ओङ्कार शब्द की ही अपचिति के लिये सम्पूर्ण कर्म्म का अनुष्ठान होता है ऐसा मानना चाहिये। और होम के द्वारा ही तो अन्न की उत्पत्ति होती है। उसके भोजन आदि से ही प्राण तृप्त होते हैं। और प्राण तृप्त होने पर ही ओं शब्द का गान होता है। इस कारण भी अक्षर की ही प्रधानता विदित होती है अतः वर्णवाची अक्षर मात्र का यहां

वर्णन ज्ञात होता है न कि ईश्वरवाची अक्षर का । उत्तर—महा आरम्भवाली उपनिषद् की प्रवृत्ति केवल वर्णवाची अक्षर की स्तुति के लिये नहीं हो सक्ती। और ओम् अक्षर को द्वार बनाकर ब्रह्म के महत्व के प्रतिपादन के लिये प्रवृत्त हुई हुई उपनिषद् यदि केवल वर्णात्मक ओङ्कार शब्द के व्याख्यान को ही प्रतिपादन करे तो निज सिद्धान्त से भी गिर जायगी। और अपचिति शब्द का अर्थ पूजा होने के कारण ब्रह्म के ही पूज्यत्व को उपनिषद् भी स्वीकार करती है। सो यदि केवल अक्षर की ही पूजा अभीष्ट होतो उपनिषद् का अभिप्राय ही नष्ट हो जायगा। इस कारण यहां ब्रह्मवाची अक्षर का ग्रहण है। पुनः महिमा और रस ये दोनों शब्द अक्षर में कदापि संघटित नहीं हो सकते। क्योंकि प्रत्येक मन्त्र के आदि में जो ओङ्कार का उच्चारण होता है सो महिमा ब्रह्म की है न कि अक्षर की और हवन करने से जो कुछ जलादि से लाभ पहुंचता है वह सब ईश्वर की ही महिमा है। उसी महिमा से जगत् भी रसमय हो रहा है। ईश्वर ही मुख्य रस है। वही सबों को रस दे रहा है। ओङ्कर वा वैदिक मन्त्र द्वार मात्र है॥ अलमतिविस्तरेण ॥ ९ ॥

तेनोभौ कुरुते यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद। नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति ॥ १० ॥

तेन। उभौ। कुरुतः। यः। च। एतत्। एवम्। वेद। यः। च। न। वेद। नाना। तु। विद्या। च। अविद्या। च। यत्। एव। विद्यया।

करोति । श्रद्धया । उपनिषदा । तत् । एव । वीर्य-वत्तरम् । भवति । इति । खलु । एतस्य । अक्षरस्य । उपव्याख्यानम् । भवति ॥ १० ॥

भाष्यम्–ओङ्कार शब्दस्य विविधान् अर्थान् दर्शयित्वा अर्थज्ञानकर्त्तव्यतावश्यकतामुपदिशति तेनेत्यादिना । यः पुरुषः ए-तदक्षरम् । एवं पूर्वोक्तरीत्या व्याख्यातं वेद । जानाति । यश्च पुरुषः न वेद । न जानाति । उभौ । विज्ञाविज्ञौ तेन । ओङ्काराक्षरेण कुरुतः । कर्मा-नुष्ठानं कुरुतः । अर्थात् सम्प्रति अयमाचारो दृश्यते यदोङ्करा-क्षरस्यार्थमविदित्वापि केपि कर्मानुष्ठाने प्रवर्त्तन्ते केपि बुध्वापि । ब्रुवन्ति तु कर्म्मठाः कर्म्मसामर्थ्यादेव उभावपि समानं फलं प्रा-प्नुतः । अतो बह्वायासेन बहुपरिश्रमेण बहुकालेन ज्ञात्वापि तद-र्थं तेन किं करिष्यति तज्ज्ञः । लोकेपि दृश्यते तद्गुणानां ज्ञात्रज्ञात्रो र्हरीतकीं भक्षयतोर्जनयोर्भवत्येव समानं विरेचनम् । अग्निर्यथा अतद्गुणज्ञमुपतापयति तथैव तदगुणज्ञमपि । तर्हि को; विशेषो ज्ञा-नाज्ञानयोः । अत उत्तरं पठति । नानातु विद्या चाविद्या च । तु शब्द पूर्वपक्षं निवर्त्तयति । अर्थात् नेदृशोऽन्यायस्य प्रमाणवत्ता सेत्स्यति । कथम्? । यस्मात् । विद्या च अविद्या च । नाना भिन्नास्ति । विद्यावि-द्ये हि भिन्ने स्तः । विद्यया । विज्ञानेन । श्रद्धया । प्रीत्या उपनिषदा च । उपनिषदां शिक्षया च युक्तः सन् यत् कर्म्म करोति अनुतिष्ठति तदेव कर्म्म एवमेवानुष्ठीयमानं वीर्य्यवत्तरं बहुफलदायकतरं भवति ।

अयमर्थः—वने निवसन्तः शबरपुलिन्दप्रमुखा अनभिज्ञा जनाः पद्मरागगजमुक्तादीन् दुर्लभान् मणीन् प्राप्यापि न किञ्चि दपि फलं लभन्ते । तानेव तद्विशेषज्ञा वणिजो लब्ध्वा विक्री-य च बहूनि धनानि समासाद्य सुचिरकालं सुखेन निवसन्ति भूमिं बाह्यतो जानन्तोपि भारतदेशीयास्तदविशेषानभिज्ञा क्लिश्य-

न्त्येव । भूगर्भविद्यानिपुणाः खलु पाश्चात्या भगर्भे बहून् आकरान् प्राप्य तद्द्वारा समासादितधनसम्पत्तयोजगदपि सुखयन्ति । एवं तत्तत्पदार्थतत्त्वविद्भिस्तैः प्रकाशितानि बहूनि अपूर्वाणि वस्तूनि जगदानन्दयन्ति । एतेन ज्ञायते कानिचित् वस्तूनि विदितान्येव फलं प्रयच्छन्ति यथा मणिमुक्तादीनि । कानिचित् अविदितान्यपि यथा विषभक्षणादीनि । अत्र मीमांसा भवति दार्ष्टान्तिके । ओङ्काराक्षरमविदितार्थं फलप्रदाने समर्थमस्तीति न वा । ओङ्काराक्षरं तावत् कीदृशं वर्तते । ज्ञातं सत् फलवाहकमाहोस्विद् अज्ञातमपि । सम्यग् विदितः सन्नेव शब्दः फलप्रदो भवतीति शब्दस्वभावः । तथाहि लोके दृश्यते अर्थमबुध्वा यदि सम्पूर्णं व्याकरणं वाचयेत् नहि तेन तस्य किमपि फलम् । नहि तेन स वैयाकरणो निगद्यते । अर्थं बुध्वा यदा व्याकरणमधीते तदा वैयाकरणसंज्ञां लभते । एवं शब्दस्य यथा यथार्थं तत्त्वञ्च विजानाति तथा तथा मनः प्रसीदति । अर्थविज्ञानेन ब्रह्मतत्त्वमपि विदितप्रायं जायते । इदमेव शब्दानां परमं प्रयोजनम् । अविदितार्थश्च शब्दो न तत्प्रयोजनमावहति । अतः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सन्नेव कामधुग् भवति तद्विज्ञानेनैव कर्माण्यपि सम्यग् विधिवत् अनुष्ठितानि भवन्ति । ओङ्कारोपि अक्षरत्वात् स सम्यग् ज्ञातः सन्नेव फलप्रापको भवेत् । अतास्यार्थः उपनिषद् व्याख्यानरीत्या सम्यग् ज्ञातव्यः । यत्तु औषस्त्ये काण्डे अविज्ञानवतामपि ऋत्विजां कर्मणि प्रवृत्तिर्दृश्यते । तदविदुषां ऋत्विजां मूर्धपतनाभिधानं तत्फलं श्रूयते तत्रैव । अतो ज्ञात्वैव कर्मणि प्रवर्तितव्यमितिदिक् । सम्प्रति उपसंहरति खलु निश्चयेन एतस्यैव अक्षरस्य परस्य ब्रह्मण अविनश्वरस्य निश्चलस्य अविकारस्य सर्वैः पूर्वोक्तविशेषणैः उपव्याख्यानं भवति नान्यस्येत्यर्थः ॥ १० ॥

अनुवादः—जो कोई ओङ्कार को इस प्रकार जानता और जो नहीं जानता । वे दोनों ही उस ओङ्कार के द्वारा कर्म करते हैं । परन्तु विद्या और अविद्या भिन्न हैं । विद्या, श्रद्धा और उपनिषद् की शिक्षा से युक्त होकर मनुष्य जिस कर्म को करता है । वही कर्म बलवत्तर होता है यह सब निश्चय करके अक्षर का ही उपव्याख्यान है ॥ १० ॥

पदार्थः—(यः) जो (एतद्) इस अक्षर को (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है। (च) अथवा (यः च) और जो (न वेद) नहीं जानता है। (उभौ) दोनों (तेन) उस ओङ्कार अक्षर से (कुरुतः) कर्म्म करते हैं (तु) परन्तु (विद्या च) और विद्या (अविद्या च) और अविद्या (नाना) भिन्न भिन्न हैं (विद्यया) विद्या से (श्रद्धया) श्रद्धा से (उपनिषदा) उपनिषद् से याने उपनिषद् की शिक्षा से (यदेव) जिसी कर्म्म को (करोति) करता है। (तदेव) वही कर्म्म (वीर्यवत्तरम्) वीर्यवत्तर बहुत फल देने वाला (भवति) होता है (इति) पूर्वोक्त सम्पूर्ण वर्णन (खलु) निश्चय करके (एतस्यैव) इसी (अक्षरस्य) अविनश्वर ईश्वर का (उपव्याख्यानम्) विशेष व्याख्यान (भवति) होता है ॥ १० ॥

भाष्याशयः—ओङ्कार शब्द के विविध अर्थों को दिखला कर अर्थज्ञान करने की आवश्यकता का उपदेश देती है–

शङ्कापूर्वक वर्णन किया जाता है कि जो कोई ओङ्कार शब्द के अर्थ जानता और जो अर्थ को नहीं जानता। वे दोनों ही उस ओङ्कार से कर्म करते हैं। कर्मकाण्डी लोग कहते हैं कि कर्म के सामर्थ्य से दोनों का फल तुल्य होगा। यदि ऐसा है तो अर्थ ज्ञान के लिये उतना परिश्रम करना व्यर्थ ही है। लोक में भी देखा जाता है कि अनजान और जानने वाले दोनों ही हरीतकी का भक्षण करें तो विरेचन रूप फल समान ही है। विष के खाने वाले ज्ञाता अज्ञाता दोनों ही मरेंगे। फिर अर्थ ज्ञान की क्या आवश्यकता। इस कारण उपनिषद् शिक्षा देती है कि विद्या और विद्या ये दोनों भिन्न पदार्थ हैं। तब दोनों के फल समान कैसे हो सकते हैं। अर्थात् बन में रहने वाले अनभिज्ञ शवर, पुलिन्द आदि पद्मराग गजमुक्ता आदि दुर्लभ बहुमूल्य मणियों को पाकर किञ्चित् भी फल को नहीं प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु उनके विशेष गुण के जानने वाले वणिक उन्हें पाय बेच और बहुत धन प्राप्त कर बहुत काल तक सुख से निवास करते हैं। यद्यपि भारतवासी भी भूमि को वाह्यरीति से जानते थे और अब भी जानते हैं परन्तु उस की विशेषता को न जानने के कारण क्लेश पारहे हैं। भूगर्भ

विद्या के निपुण पाश्चात्य विद्वान् भूगर्भ में अनेक आकरों (खानों) को पाकर उसके द्वारा असंख्य धन सम्पत्ति वाले होकर जगत् को भी सुखी कर रहे हैं। एवं तत्तद् पदार्थों के तत्वों को जानने वाले पाश्चात्य विद्वान अनेक अपूर्व वस्तुओं को प्रकाशित कर जगत् को आनन्दित कर रहे हैं । यदि पदार्थों के तत्व को न जानते तो उनके द्वारा इन विद्याओं का प्रकाश नहीं होता । इन उदाहरणों से विदित होता है कि कोई वस्तु विदित होने पर ही फल देनेवाली होती है । जैसे मणि, मुक्तादि । और कोई वस्तु अविदितार्थ रहने पर भी फल देने वाली होती है । जैसे विष भक्षण आदि ।

अब यहां दार्ष्टान्तिक में मीमांसा करनी चाहिये कि ओङ्काराक्षर अविदितार्थ होने पर भी फल देने में समर्थ है वा नहीं । अर्थात् यह ओङ्काराक्षर कैसा है ? ज्ञातार्थ होने पर ही फल देने वाला है वा अज्ञातार्थ भी । सम्यग् ज्ञात होने पर ही शब्द फल का देने वाला होता है यह शब्द का स्वभाव है जैसे लोक में देखते हैं कि अर्थ को न जानकर यदि सम्पूर्ण व्याकरण बांच जाय तो उससे उसे कुछ भी फल नहीं मिलता । कदापि वह वैयाकरण नहीं कहला सकता । अर्थ जानकर जब व्याकरण पढ़ता है तब ही वैयाकरण की पदवी को पाता है । इस प्रकार शब्द के अर्थ को जैसे जैसे जानता जाता है । वैसे वैसे मन भी प्रसन्न होता जाता है । शब्द के वास्तविक तत्व के जानने से परम आनन्द भी प्राप्त होने लगता है । और शब्दार्थज्ञान से ब्रह्मतत्व भी विदित-प्राय होने लगता है यही शब्दों का परम प्रयोजन है । अविदितार्थ शब्द से वह प्रयोजन कदापि सिद्ध नहीं हो सकता । अतः शब्द सम्यग् ज्ञात होने पर ही कामधुक् होता है । और अर्थ के विज्ञान से ही कर्म्म भी विधिवत् अनुष्ठित हो सकते हैं । जिस कारण ओङ्कार भी शब्दमय है । अतः ज्ञात होने पर ही फल देनेवाला हो सकता है अन्यथा नहीं । इस कारण ओङ्कार शब्द के अर्थ उपनिषद् के व्याख्यान की रीति से जानने चाहियें । तबही इसका फल भी होगा ।

शङ्का-इसी उपनिषद् के उपस्तिकाण्ड में अज्ञानियों की प्रवृत्ति कर्मकाण्ड में देखते हैं । तब अर्थ की आवश्यकता के ऊपर आप इतना विवाद क्यों करते हैं ।

उत्तर—प्रवृत्ति को तो कोई भी रोक नहीं सकता क्योंकि मनुष्य कर्म करने में तो स्वतन्त्र है परन्तु फल की जिज्ञासा करनी चाहिये। वहां फल यह कहा गया है कि उन अज्ञानी ऋत्विजों के शिर खण्डशः हो जाते यदि उषस्ति चाक्रायण के द्वारा उन ऋत्विजों को अर्थ ज्ञान नहीं होता। अतः अर्थ जान कर ही कर्म्म में प्रवृत्ति करनी चाहिये।

इसी अभिप्राय से उपनिषद् शिक्षा देती है कि विद्या से युक्त होकर जो कर्म किया जाता है वही वीर्यवत्तर अर्थात् बहुफलदायक होता है। उसमें भी श्रद्धा और शिक्षा की आवश्यकता है। अतः श्रद्धा और उपनिषद् शब्द का प्रयोग किया गया है याने उपनिषद् की शिक्षा से ओङ्कार शब्द के यथार्थ अर्थ का ग्रहण कर उसके द्वारा ब्रह्मसमाधि की भावना करनी चाहिये यह सब पूर्वोक्तवर्णन यथार्थ में इसी अविनश्वर ब्रह्म का ही जानना चाहिये अन्य का नहीं। अतएव मूल में (एतस्यैव) इस पद में एव शब्द का पाठ है जिससे सूचित होता है कि उस ब्रह्म का ही यह सम्पूर्ण वर्णन किया गया है। और इस से विस्पष्ट होता है कि जो लोग ओम् शब्द का वर्णात्मक अक्षर अर्थ करते हैं वे भ्रान्त हैं॥ १०॥

इति प्रथमप्रपाठकस्य प्रथमः खण्डः समाप्तः॥

ओ३म्

अथ ओङ्कारसमीक्षा ॥

संस्कृतम्—ननु ऋचि, साम्नि अथर्वणि च वेदे ओमित्येतस्याक्षरस्य प्रयोगादर्शनात् शतपथैतरेयादिषु पुरातनेषु ग्रन्थेषु च विशेषवर्णनाभावाच्चाचिरप्रवृत्तप्रचारोऽयंशब्द इत्यनुपमीयते । यत्तु यजुषश्चत्वारिंशत्तमेऽध्याये द्विरयमधीयते । तदपि बहुसंदेहानेव जनयति । यतोऽस्मिन्नध्याये शाखाभेदेन विविधपाठैर्बहुविधव्यत्ययैर्लुप्तप्रक्षिप्तबहुशब्दैश्चदोषगृहीतत्वात् कतमः पाठः वैदिक आसीदित्यवधारयितुं सम्प्रति न शक्नुमः । तथा चैतस्योपनिषद्भूत्त्वमेव । न वेदत्त्वम् । पश्चाद् वेदीभूतइत्युपनिषद्विदां सम्मतिर्वर्त्तते । यतो एतेमन्त्राः कर्मसु न विनियुक्ताः । सम्प्रत्यपि ईशावास्यवाजसनेयोप-

---

भाषा-शङ्का-ऋग्, साम और अथर्ववेद में इस ओङ्कार अक्षर के अदर्शन से और शतपथ ऐतरेय आदि प्राचीनग्रन्थों में इस का विशेष वर्णन न होने से अनुमान होता है कि वैदिक समय में इसका प्रचार नहीं था । यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में जो दो वार इस के पाठ आते हैं उन सेभी सन्देह की निवृत्ति नहीं हो सकती । क्योंकि इस अध्याय में शाखाभेद से बहुविधपाठ, बहुप्रकार के परिवर्त्तन, अनेक पदों के लोप और उन की जगह में दूसरे शब्दों के सन्निवेश आदि दोष विद्यमान रहने के कारण निश्चय नहीं कर सकते हैं कि वास्तविक वैदिक पाठ क्या था ? और उपनिषद् के तत्त्ववेत्ता लोग कहते हैं कि यजुर्वेद का यह अन्तिमाध्याय यथार्थ में प्रथम उपनिषद् के रूप में था पश्चात् वेद का भाग मानागया । क्योंकि इन मन्त्रों के विनियोग कर्मकाण्ड में नहीं देखे जाते हैं । कर्मकाण्डी लोगों के द्वारा सम्पूर्ण वैदिक मन्त्रों के विनियोग देखे जाने और इन के विनियोग न होने से विस्पष्ट ही प्रतीत होता है ।

निषदादिनाम्ना उपनिषदां मध्ये सर्वश्रेष्ठेयं परिगण्यते । अतोत्राध्यायपठितोङ्कारशब्देननाधुनिकत्वशङ्काविनिवृत्तिः ॥

अन्यच्च। अग्निवायुमरुदिन्द्रादयश्शब्दाः बहुशः प्रयुक्तत्वादिमान्येव ब्रह्मणःप्रियतराणि नामानीति चावगम्यते । यागप्रचारावसरे केनापि कारणेन कतिपयेष्वर्थेषु ऋत्विग्भिःसंकेतितः उपनिषत्समये शनैःशनैर्ब्रह्मवाचको जात इति शब्दशास्त्रविदां परामर्शः सुष्ठुतरं प्रतिभाति। सामगीतौ हाई, हाबू, औहोई, हिं, हुं इत्यादिसामस्तोभा निरर्थकाः केवलं विश्रामप्रयोजना उच्चार्यमाणा यथा दृश्यन्ते तथैवायमपि ॥

अस्मिन् विषये बलवत्तरं युक्तियुक्तञ्च प्रमाणमप्युपलभ्यते । तद्यथा अकारककारादिवर्णसमाम्नायवद् अस्मादक्षरात् कारप्रत्ययविधानेन वर्णविशेषत्वमेवास्य समायातं नच वाचकत्वं कदापि । अका-

कि ये मन्त्र वेद के भाग नहीं है । सम्प्रति भी ईशावास्योपनिषद् वाजसनेयोपनिषद् इत्यादि नाम से उपनिषदों में ही इस की गणना की जाती है । अतएव इस अध्याय में पठित ओंकार शब्द से इस की प्राचीनता में सन्देह ही होता है ।

दूसरी बात यह है कि अग्नि, वायु, मरुत और इन्द्र आदि शब्द वेद में वारम्वार प्रयुक्त होने से ब्रह्म के येही सब प्रिय नाम प्रतीत होते हैं। अन्य नहीं । यज्ञ के प्रचार के समय में किसी कारण विशेष से यह अक्षर किन्हीं अर्थों का संकेतमात्र ऋत्विकों ने माना था । पश्चात् उपनिषद् के समय में धीरे२ ब्रह्मवाचक बन कर अति श्रेष्ठ और पवित्र हो गया ऐसी । शब्दशास्त्र तत्त्ववेत्ताओं की सम्मति अच्छी मालूम होती है । क्योंकि जैसे सामवेद के गान में हाई, हाबू, औहोई, हिं, हुं. आदि शब्द (जो सामस्तोभ कहलाते हैं) निरर्थक हैं केवल सामगान के समय बीच२ में विश्राम के हेतु ही उनका उच्चारण प्रयोजन देखने में आता है। वैसे ही यह शब्द भी संकेतार्थ वा विश्रामार्थ प्रयुक्त होता होगा।इसकी पुष्टि में यह एक बलिष्ठ और युक्तियुक्त प्रमाण मिलता है कि जिस अक्षर के पर में कार प्रत्यय का विधान रहता है वह केवल वर्णवाची होता है। जैसे अकार, इकार, ककार, चकार और ठकारादि शब्दों से केवल अ, इ, क,

रमुपासीतेति कथनेन अकाररूपो यो वर्णः तस्यैवोपासना प्रतीयते नतु तद्वाच्यस्य तद्वदिहापि । इन्द्राग्निप्रभृतिब्रह्मवाचकेभ्यः कार प्रत्ययादर्शनाच्च । एवंविधैर्हेतुभिरोङ्कारशब्दस्य सामगीतिविशेषे संकेतत्वमेव प्रतीयते । पश्चाद् भूरिसंचरः यदृच्छया स्वस्वसम्प्रदायानुसारेण सन्निवेशितार्थः कृतसंस्कारः पवित्रीभूतो यज्ञादिसत्कर्मसु लब्धोत्तमस्थानः संवृत्तः । तस्मादवैदिकत्वादिन्द्राग्निप्रभृतिब्रह्मनामवत् नायं श्रेष्ठपदमर्हति । तत्कथं वैदिकैर्भवद्भिर्ब्रह्मणः प्रियवाचकत्वेनाक्षरमिदम्प्रयुज्यत इति तु न जानीमो वयम् । इत्याशङ्कायां ब्रूमः ॥ विद्यते खल्वेतस्य परमप्रसिद्धस्याक्षरस्य व्याख्यानं वेदेषु । तथाहि । "ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् *" निरुक्त परिशिष्टे १।१०॥ इत्यस्य व्याख्यानावसरे यास्काचार्यः शाकपूण्याद्याचार्यत्रयस्य मतं व्याचख्यौ "कतमत् तदेतदक्षरम् ? 'ओ-

च और ठ आदि वर्णमात्र का ही बोध होता है इन के वाच्य का नहीं । वैसे यहां परभी 'ओङ्कार' कहने से केवल ओ+म् इन दो अक्षरों का ही बोध होगा अन्य का नहीं । ब्रह्मवाचक इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि किसी शब्द के पर में कार शब्द के प्रयोग का दर्शन नहीं होता इस से भी विदित होता है कि ओङ्कार शब्द केवल संकेतमात्र था । पश्चात् अपनी २ इच्छा के अनुसार और अपने २ सम्प्रदाय के अनुकूल इस के अर्थ, इस का विन्यास और रंगरूप आदि बना लिये गये । इस हेतु अवैदिक होने के कारण ब्रह्म के इन्द्रादि प्रिय नामों में इस की गिनती करनी आप वैदिक लोगों के लिये सर्वथा अनुचित ही प्रतीत होती है । पुनरपि आप लोग जो इसकी इतनी प्रतिष्ठा कर रहे हैं इसका क्या कारण है यह समझ में नहीं आता उत्तर—इस आशङ्का के उत्तर में आगे वर्णन किया जाता है । परमप्रसिद्ध इस अक्षर का व्याख्यान वेदों में अवश्य ही है देखो—ऋचो अक्षरेत्यादि निरुक्त० परिशिष्ट १ । १० । इस मन्त्र * के व्याख्यान में यास्काचार्य ने शाकपूणि आदि तीन आचार्यों के मत उद्धृत किये है । शाकपूणि कहते हैं कि इस मन्त्र में अक्षर शब्द से किस अक्षर का ग्रहण होता है ? इसके उत्तर में 'ओमित्येषावाग्' ओम् ही

* ऋग्वेद २ । ३ । २१

मित्येषा वागिति ' शाकपूणिः " शाकपूणेराचार्यस्यमते अक्षरवाच्योत्र ओङ्कारः। पुनः शङ्कते-साक्षादोङ्कारस्यात्र प्रयोगाभावात्। तत्कथंशाकपूणिव्याख्यानस्य प्रामाण्यं स्यात् । पुनरप्यस्य मन्त्रस्य तत्रैव त्रिविधव्याख्यानदर्शनात् । शाकपूणिपुत्र आदित्यपरकं मन्यते। अपरेतु आत्मपरं व्याचक्षते। तत्कथमनेन मन्त्रेण निर्णयो भवितुमर्हति। समाधीयते-भवतुतावत्। शाकपूणिसमये ओमित्यस्यासीत्प्रचार इतित्ववश्यमुररीकरिष्यन्ति भवन्तः। शाकपूणेः यास्काचार्यादपि चिरन्तनत्वात् चिरन्तनप्रचारोयं नाधुनिक इति पर्य्यवसितम्।

किन्तु अस्मिन्नपि मन्त्रे प्रत्यक्षोहि ओङ्कारः सुनिपुणमतिभिर्भवद्भिः सूक्ष्मदृष्ट्यावलोक्यताम् । व्योमन्नित्यत्र वि+ओम्+अन् इति पदत्रयं विद्यते। वि+अन् इत्येतयोर्द्वयोर्मध्ये विराजते च ओम्

वह अक्षर है ऐसा कहते हैं। शङ्का—साक्षात् ओङ्कार शब्द के प्रयोग यहां न होने के कारण शाकपूणि के व्याख्यान का प्रामाण्य कैसे हो सकता है। और इस मन्त्र के व्याख्यान वहां ही तीन प्रकार से कहे गये हैं शाकपूणि के पुत्र इस मन्त्र को "आदित्य" में अन्य आचार्य " अध्यात्म " में और शाकपूणि " ओम् " अक्षर में घटाते हैं तब किनके व्याख्यान का प्रमाण मानाजाय। इसलिये इस मन्त्र के द्वारा कैसे निर्णय हो सकता है। उत्तर-अच्छा शाकपूणि के समय में इसका प्रचार था इस बात का आप अवश्य स्वीकार करेंगे और शाकपूणि के यास्क से भी चिरन्तन होने के कारण इसका प्रचार चिरन्तन है आधुनिक नहीं यह सिद्ध होता है। किन्तु इसी मन्त्र में प्रत्यक्ष ही ओङ्कार है। सूक्ष्मदृष्टि से बुद्धिमत्ता के साथ देखो। व्योमन् इस पद में वि+ओम्+अन् ये तीन पद विद्यमान हैं " वि और अन् " इन दोनों के मध्य में ओम् शब्द विराजमान हो रहा है तब तुम कैसे कहते हो कि इसका साक्षात्प्रयोग नहीं है। विशब्द से विशेष मूल प्रकृति का और अन् शब्द से जीव का ग्रहण है क्योंकि (अनिति, प्राणिति, जीवति इति अन्) जो सदा जीवित रहे उसे अन् वा जीव कहते हैं। अन् धातु से यहां 'क्विप्' प्रत्यय है। इसी से प्राणी आदि शब्द भी बनते हैं। और ओम् शब्द से ब्रह्म का ग्रहण प्रसिद्ध है। प-

शब्दः । तत्कथं निगद्यते भवद्भिर्नास्य साक्षात्प्रयोग इति । वि शब्देन विशिष्टा मूलप्रकृतिर्गृह्यते । अन् शब्देन जीवः । अनिति प्राणिति जीवतीति अन् । जीवः पुरुषः आत्मा इति । अन् धातोः क्विप् । ओम् पदेन ब्रह्म । पदार्थानांत्रित्वाद्धेतोरिमानेव त्रीन् पदार्थान् अवगमयितुं व्योमन् पदेन शिक्षते मातृभूता ऋक् । एतत्त्रयमविदितं यदिचेत् (किमृचा करिष्यति) व्यर्थमेववेदानामध्ययनमिति सम्यक् सूचयति भगवान् कारुणिकः परमपुरुषः । ब्रह्म खलु सर्वस्य मध्ये तिष्ठतीति सूचयितुं इतरयोर्मध्ये ओम् शब्दस्य प्रयोगः कृतोस्तीति एतदेव प्रतिपादयन्तः–"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्यआत्मनि तिष्ठति" "हृदि ह्येष आत्मा" इत्येवंविधा उपनिषत्सु सन्ति बहवः प्रयोगाः । यास्काचार्योऽपि एतस्य मन्त्रस्य त्रीनेवार्थान् व्याचक्षाणः सन्ति चात्र त्रयः पदार्था इति सम्यग्प्रदर्शयाञ्चकार । ओम्पर आ-

---

दार्थ भी ३ ही हैं इस कारण इन्हीं तीन पदार्थों को जनाने के हेतु व्योमन् पद से मातृसदृशी ऋचा शिक्षा देती है । ये तीन पदार्थ यदि अवितिद रह जांय तो (किमृचाकरिष्यति) अर्थात वेद का अध्ययन व्यर्थ है इस को अच्छी तरह से भगवान् सूचित कररहे हैं ।

ब्रह्म सब के मध्य में विराजमान है एतत्सूचनार्थ वि और अन् के मध्य में ओम् शब्द का प्रयोग किया गया है । इसी को प्रतिपादन करते हुए (अङ्गुष्ठमात्रः हृद्येषः) इत्यादि उपनिषदों में बहुत प्रयोग हैं । यास्काचार्य ने इस मन्त्र के तीन ही अर्थ करते हुए जगत् में ३ ही पदार्थ हैं यह प्रकाशित किया है । यह मन्त्र ओम् परक, आदित्यपरक व अध्यात्मपरक है । आदित्यशब्द से यहां सर्वत्र द्योतमान प्रकृति, ओम् शब्द से ब्रह्म और अध्यात्म शब्द से देही पुरुष का ग्रहण है इन तीन अर्थों के व्याख्यान करते हुए वेद वेत्ताओं में श्रेष्ठ यास्काचार्य ने महान् गूढ अर्थ का प्रकाश किया है । और तुमने जो ये कहा कि इस मन्त्र को तीन आचार्य तीन अर्थों में घटाते हैं उस का भी यह अभिप्राय समझना कि ये तीनों मिलकर मन्त्र का सम्पूर्ण अर्थ होता है । मन्त्र के "अक्षरे" और "परमे" ये दोनों पद व्योमन्-शब्द के विशेषण हैं ये । तीनों अविनाशी

दित्यपर अध्यात्मपरश्चमन्त्रोयम्। आदित्यशब्देन सर्वत्रैव द्योतमाना प्रकृतिरत्र विवक्षिता। ओम् शब्देन ब्रह्म। अध्यात्मशब्देन पुरुषः शारीरः। एतदर्थत्रयस्य व्याख्यानेन महान् गूढार्थः प्रकाशितो यास्काचार्य्येणवेदविदां वरिष्ठेन। मन्त्रेव्योमन्निति लुप्तसप्तम्यन्तं पदं विशेष्यम्। अक्षरे, परमे इतिपदद्वयं विशेषणं। त्रयाणामपि अविनश्वरत्वादक्षरत्वम्। उत्कृष्टत्वात् परमत्वमितिसंगतिः। यत्तुसायणाचार्येण स्वकीये ऋग्वेदभाष्ये अर्थचतुष्टयमभ्यधायि तत् निजपाण्डित्यमेवप्रदर्शितम्। तदिह व्योमन् शब्दः सर्वेषु वेदेषु अस्मिन्नेवार्थे बहुशः प्रयुक्तोस्तीति "वेदेषु प्रयोगादर्शनात् नायं वैदिक" इति यदुक्तं तदसंगतं संवृत्तम् ॥ वेदस्य तत्त्वं परमं निगूढं लक्षेषु कश्चिदेव विजानाति। अतोत्रविषये "इदमित्थ" मितीयत्ता नावधारणीया। किन्तु सद्भावेन सदा तत्त्वं विजिज्ञासनीयम्।

होने से अक्षर, और उत्कृष्ट होने के कारण परम कहलाते हैं। सायणाचार्य्य ने अपने वेद भाष्य में जो इस मन्त्र के चार अर्थ किये हैं सो उनका पाण्डित्य मात्र है। यह व्योमन् शब्द चारों वेदों के अनेक स्थल में प्रयुक्त हुए हैं। इसलिये वेद में ओंकार का प्रयोग नहीं यह तुह्मारा कथन ठीक नहीं। वेद के तत्व परम गूढ़ हैं लक्षों में बिरला ही कोई जानता है। अतः वेद के विषय में इदमित्थम् कहकर किसी विषय की इयत्ता नहीं करनी चाहिये किन्तु तत्वों की जिज्ञासा तो अवश्य करे। अब हम लोगों के सन्देह निवृत्त हुए इस अर्थ को हम लोगों से किसी ने प्रकाशित नहीं किया था वेद के तत्वों से बहुदूरस्थित। साम्प्रतिक अज्ञानियों ने यह सन्देह दिलाया था इसलिये मैंने ऐसा कहा था। अच्छा जाने दो।

अब ऋग्वेद का दूसरा उदाहरण भी सुनो (ओमासश्चर्षणी*)इत्यादि निरुक्त १२। ४०। विश्वदेवासः) हे सकल विद्वानों आप लोग (दाशुषः) आदर करने वाले मेरे (सुतम्) प्रस्तुत भोज्य पदार्थों को ग्रहण करने के लिये (आगतः) आवें अर्थात् मेरे अन्न को ग्रहण करके गृह को सुशोभित करें।

---

* ऋग्वेद १। १। ६

अहो विगतसन्देहा वयं संवृत्ताः स्मः । नायमर्थः केनापि प्रदर्शितोऽस्मभ्यम् ॥ इदानींतनैरबुधैर्वेदतत्त्वात् सुदूरमपगतैः संशयं नीतेन मया तथोक्तिमिति । आस्तांतावत् । अन्यदपि ऋग्वेदस्योदाहरणं शृणुत-

"ओमासश्चर्षणी धृतो विश्वे देवास आ गत । दाश्वांसो दाशुषः सुतम्" ॥ ऋग्वेदे १।१।६। अयमर्थः । हे विश्वेदेवासः । सर्वे विद्वांसो यूयं दाशुषो दत्तवतः आदरयितुः मम सुतं सोमप्रधानमन्नं ग्रहीतुम् । आगत । आगच्छत । ममान्नं गृहीत्वा गृहं शोभयत । कथंभूतायूयम् । ओमासः । ओम्–ब्रह्मणः उपवेष्टारः । ब्रह्म समीप उपवेशकाः । ब्रह्मविद इत्यर्थः । अत्र आस्तेः क्विप् । आसते इति आसः । ओम्—ब्रह्मणः आसः इति ओमासः । षष्ठीतत्पुरुषः । पुनः कथंभूताः । चर्षणीधृतः । चर्षणीनांमनुष्याणां धृतः । धारयि-

आप लोग कैसे हैं ? ओमासः । ओम् अर्थात् ब्रह्म और आस नाम बैठने वाले अर्थात् ब्रह्म के समीप बैठने वाले अर्थात् ब्रह्म के जानने वाले आप लोग हैं यहां ओम् + आस मिल कर ओमास पद बनता है और आस धातु से क्विप् प्रत्यय परे आस बनता है । ओमास शब्द के अर्थ रक्षक आदि भी होते हैं । (चर्षणीधृतः) मनुष्यों को अपने उपदेश से भरण पोषण करने वाले हैं पुनः (दाश्वांसः) विज्ञान के देनेवाले । यहां ओम् शब्द का साक्षात् पाठ देखो ।

प्रत्येक मन्त्र के अन्त में ओङ्कार का विधान ।

वेदों में येही पूर्वोक्त दो एक स्थल ओङ्कार युक्त नहीं है किन्तु सकल मन्त्र के अन्तिम टी (१) ओङ्कार से युक्त है यह विषय उदाहरण से विस्पष्ट होगा जैसे अपाꣳरेताꣳसि जिन्वति य० अ० ३ मं० १२ ॥ विश्वे देवा यजमानश्चसीदत य० अ० १५ । मं० ५४ ॥ आपोभवन्तु पीतये यजु० इन मन्त्रों में क्रमशः अन्तिम टी (१) ति का इ, तकार का अकार, येकार का एकार है ये सब अक्षर यज्ञकर्म में पढ़ने के समय ओम् होजायेंगे जैसे जिन्वति के स्थान में

(१) टी व्याकरण की एक संज्ञा है ।

तारः । स्वेनोपदेशेन प्रजानां पालका इत्यर्थः । इहापि धृधातोः क्विप् । पुनः दाश्वांसः । विज्ञानप्रदाः । अत्र ओम् शब्दस्य प्रत्यक्षः प्रयोगोस्ति । अवितृगन्तृकामयितृश्रोतृप्रभृत्यर्थोपि ओंशब्दः । धातोस्तदर्थत्वात् ।

पुनरपि विचार्यताम् । सर्वेषां वेदमन्त्राणाम् "प्रणवष्टेः ८।२।८९" अनेन यज्ञकर्मणि टेरोमित्यादेशो भवति " अपां रेतांसि जिन्वतोमित्याद्युदाहरणम् । एतेन सर्वे वैदिकमन्त्रा ओमित्यनेनैवान्ते संयुक्ताः सन्तीति । यावन्तो वैदिकमन्त्रास्तावन्तअस्याक्षरस्य पाठाः वेदेषु विद्यन्त इति सम्यग् विज्ञायते ॥ एतेन "अग्न्यादि शब्दवत् नायं बहुशः पठित" इत्यादि यदुक्तं भवद्भिस्तदप्ययुक्तम् । प्रत्युत सर्वेभ्यः शब्देभ्यः बहुलतरोऽयमेव पठितो भवति । सर्वमन्त्रान्ते अस्यैवोच्चारणविधानात् न पृथग्भूयानस्य पाठः कृतोस्ति । एतेन

(जिन्वतोम्) सीदत के स्थान में (सीदतोम्) पीतये=पीतयोम्, इत्यादि-इसी प्रकार सब मन्त्र में जान लेवें।

महर्षि पाणिनि इस विधि के लिये सूत्र रचते हैं यथा प्रणवष्टेः ८।२।८९ यज्ञकर्म में टिके स्थान में ओम् आदेश हो । अन्तिम स्वर है आदि में जिस के उस वर्ण की "टि" संज्ञा होती है । "अचोन्त्यादिटि,, इस सूत्र से, इस नियम से सिद्ध होता है कि वेद के सब ही मंत्र ओङ्कार अक्षर से युक्त हैं । यदि यह कहो कि याज्ञिक कर्तृक इस नियम को देखकर पाणिनि ने उस सूत्र का विधान किया हो यह तुम्हारा कथन ठीक नहीं । क्योंकि वे भी तो वेद के पार दर्शी थे । और दूसरी बात यह है कि स्वकपोल कल्पित वर्ण को वैदिक मन्त्रों के साथ कोई जोड़ नहीं सकता । क्योंकि जोड़ने वाले का इस से कोई प्रयोजन नहीं । इस में कोई प्रमाण भी नहीं और न आप्त पुरुष ऐसा कर भी सकते ॥

यदि यह कहा जाय कि तब वेदों के पुस्तकों में लिखित ओङ्कार क्यों नहीं देखे जाते ? तो उस का उत्तर यह हैं कि चारों वेदों के लिये यह नियम समान है । लाघवार्थ लिखे नहीं जाते । क्योंकि अनादिकाल से चली आती हुई यह परिपाटी सर्वत्र परम प्रसिद्ध थी और अब भी है । यह व्याकरण और

सर्वैर्मन्त्रैर्ब्रह्मैव समन्वीयते । अतएव तदन्ते एतस्याक्षरस्योच्चारणोपदेशः कृतइति बोध्यं गूढतात्पर्यम् । केवलोच्चारणप्रयोजनसम्बन्धित्वेन पुस्तकमध्ये लेखननिष्प्रयोजनान्न कस्मिंश्चिद् तेन सहिता मन्त्रा लिखिताः सन्ति । नच याज्ञिकैः प्रचारितमिमंनियममवलोक्य महर्षिणा पाणिनिना वैयाकरणेन "प्रणवष्टेः" इति सूत्रं सूत्रितमित्याशङ्कनीयम् । तस्यापि वेदपारदर्शित्वात् । अन्यच्च नहि स्वकल्पितं वर्णं वैदिकैर्मन्त्रैः सार्द्धं योजयितुं केप्यर्हन्ति । निष्प्रयोजनत्वात् प्रमाणाभावात आप्तपुरुषैः तत्करणानर्हत्वाच्च ।

अस्मादेव वैदिकनियमात् ऐमिन् (Amen) آمین आमिन्नित्यादिशब्दानधुनापि यवनाः प्रार्थनान्ते एव पठन्ति । एतेऽपि ओमित्यस्यैव

उच्चारण मात्र से सम्बन्ध रखने के हेतु भी लिखा नहीं जाता । शङ्का—तब हम इस पर कैसे विश्वास कर सकते हैं कि प्रत्येक मन्त्र के अन्त में ओङ्कार का प्रश्लेष है । उत्तर—जिस कारण आप्त पुरुष ऐसा ही उच्चारण करते आये हैं और (अग्निमीळे) इत्यादिकों का प्रमाण भी आप्त पुरुष के प्रमाण ही से मानते हैं । जब ब्राह्मण और महर्षि पाणिनि इस में साक्षी हैं तो सन्देह करना ही मूर्खता है । यों तो प्रत्येक मन्त्र में ही सन्देह हो सकता है कि यह वेद है या नहीं ॥

इस से यह सिद्ध हुआ कि वेदों के मन्त्रों की जितनी संख्याएं हैं उतने वार ओङ्कार के प्रश्लेष हैं अतः इन्द्र, अग्नि, वायु आदि ईश्वर वाचक शब्दों से इसी का अधिक पाठ सिद्ध हुआ । आपका कथन "इन्द्रादिक शब्दों के बहुवार पाठ होने से ईश्वर के प्रियनाम प्रतीत होते हैं" असंगत ठहरा । इस नियम को द्वीप द्वीपान्तर में भी यहां से गये हुए प्राचीन आर्य्य लोग पालते रहे व अभी तक पाल रहे हैं । जैसे कृष्टान लोग ऐमिन् (Amen) और अन्य यवन लोग (آمین) आमिन् आदि शब्द को प्रार्थना के अन्तमें ही उच्चारण करते हैं यह ऐमिन आदि शब्द ओङ्कार का अपभ्रंश है । इसमें सन्देह नहीं । यद्यपि यह शब्द कहां से आया, क्या अर्थ है, क्यों अन्त में इस को पढ़ना चाहिये इत्यादि बातों को वे लोग अब नहीं जानते क्योंकि चिरकाल से उन लोगों का निवास आर्यों से पृथक् हो गया और उन में संस्कृत का प्रचार भी नहीं रहा । तथापि अनादि काल से प्रचलित परम प्रिय इस ओङ्कार को साथ ले जाने ही के

विकाराः। किंत्विदानीं कस्मादायातः कोर्थः कथमन्ते पाठ्यः इत्येवं ते न विदन्ति। चिरकालार्य्यपृथक्निवासादिकारणात्। हाई हाबू प्रभृति सामस्तोभा अपि अर्थवन्तः। सप्रयोजनाश्च। अयं वावलोको हा उकार इत्यादि निर्देशात्। यद्यपि वर्णात्कारः। तथापि नेदमर्थान्तरबाधकम्। अकारो विष्णुः। उकारः प्रजापतिः। इत्यादि प्रयोगविद्यमानात्। वर्णाश्चापि प्रायः सर्वे अर्थवन्तः। खं ब्रह्म। कः प्रजापतिः। इत्यादि प्रयोगदर्शनात्। यजुष अन्त्याध्यायस्य वेदवत्वं नवेति अप्रसंगात् विस्तरभयाच्च न निर्णीयते। अन्यत्र क्वचिद् द्रष्टव्यम्। ब्राह्मणान्यपि सर्वाणि प्रायः एतदक्षरं प्रस्तुवन्ति यथा—

कारण उन लोगों में अभीतक ओम् का अपभ्रंश ऐमिन आदि शब्द विद्यमान है यद्यपि उन लोगों को प्रायः संस्कृत का इतना प्रचार होने पर भी बाईबिल आदि धर्म पुस्तक में कथित ऐमिन शब्द का मूल और कारण का पता नहीं लगा है। परन्तु ओम् शब्द ही इसका मूल कारण है इस में सन्देह नहीं।

अब इस से यह जानना चाहिये कि सब मन्त्रों के अन्त में ओङ्कारोच्चारण का उपदेश इसलिये है कि परम्परया सकल वेदों का तात्पर्य अन्त में उसी ब्रह्म से है और ईश्वर की उस महती आज्ञा को ओङ्कार शब्द के द्वारा अन्त में सदा स्वीकार किया करें।

और आपने जो यह कहा था कि "हाई हाबू आदि सामस्तोभवत् यह भी निरर्थक हैं सो भी ठीक नहीं। क्योंकि वे भी अर्थवान् और सप्रयोजन हैं देखो (अयंवाव इत्यादि) इसी उपनिषद् का प्रमाण है। हाउकार का अर्थ यह पृथिवीलोक है इत्यादि। और आपने कहा था अकार ककारादिवत् ओङ्कार कहने से वर्णमात्र का बोध होता है सो भी ठीक नहीं देखो (अकारो विष्णुः) इत्यादि अकार से विष्णु, मकार से प्रजापति इत्यादि। (वर्णात्कारः) यह वार्त्तिक अर्थान्तर का बाधक नहीं हो सकता। और अपने वाच्य से भी वर्णों को पृथक् नहीं कर सकता इत्यादि जान लेना प्रायः सब वर्ण भी अर्थवान् हैं॥ यथा-(कःप्रजापतिः) "क" से प्रजापति (खं ब्रह्म) "ख" से ब्रह्म इत्यादि। अब यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के वेदवत्व अथवा अवेदवत्व

तान् वेदानभ्यतपत् तेभ्योभितप्तेभ्यः त्रयोवर्णा अजायन्ताकार उकारो मकार इति तानेकधा समभरत् तदेतदोमिति तस्मादोमिति प्रणौति । ओमिति वै स्वर्गोलोकः । ओमित्यसौ योसौ तपति । ऐतरेय ब्राह्मणे पञ्चमपञ्चिका ३२ । इत्यादि प्रयोगा ब्राह्मणेष्वपि विद्यन्ते इतरेष्वपि तथैव द्रष्टव्याः ।

त्रिमात्र ओङ्कारः ।

अस्मिन् वर्णास्त्रयः । मात्रास्तिस्रः । प्लुतत्वाभिधायिनाङ्केन तृतीयेनैव समन्वितः । शब्दपारदृश्वना पाणिनापि "ओमभ्यादाने" इत्यनेन ओमित्यस्य प्रारम्भे प्लुतो विधीयते । प्लुतस्तु त्रिमात्र एव । वेदत्रयादेव निर्दुग्ध इति मन्वादिभिः स्मर्यते । जपकर्मणि ओमः परं भूर्भुवः स्वः इति पदत्रयमुच्चार्यते । तस्मादपि परा त्रिपदा गायत्री

के बारे में यहां इतना ही कहा जाता है कि वेद के एक शब्द को भी कोई नहीं बदल सकता । जो वेद सम्प्रति विद्यमान है वही यथार्थ वेद है । अप्रसंग और सविस्तर होने के भय से यहां पर इस विषय का विचार नहीं करते इस को कहीं अन्यत्र देखना । प्रायः सभी ब्राह्मण ग्रन्थों में इसकी चर्चा है देखो ऐतरेय ब्राह्मण पञ्चम पञ्चिका ३२ वां खण्ड इत्यादि ।

त्रैमात्रिक ओङ्कार शब्द ।

इस में तीन ही वर्ण, तीन ही मात्राएं । और प्लुतत्वाविधायक इसके साथ अङ्क भी तृतीय । शब्दपारदर्शी पाणिनिभी "ओमभ्यादाने" इस सूत्र से मन्त्रों के आदि में इस को प्लुत विधान करते हैं । त्रयी विद्या से एक२ अक्षर इस के लिये गये हैं यह मन्वादियों की सम्मति है । जप कर्म में ओम् शब्द के परे तीन ही महा व्याहृतियों का, और उसके परे प्रायः त्रिपदा गायत्री का उच्चारण देखते हैं । सो यह त्रित्व ओङ्कार के साथ क्यों लगा हुआ है इसका क्या कारण है ? त्रयी विद्याओं को अच्छी तरह से जानना, तीनों ऋणों का सधाना, तीनों अग्नियों में हवन करना, तीन ही जगत् में पदार्थ हैं इन्हें अवगत करना, और

प्रायो जप्यते । कथमेवमिदंत्रित्वम् ? एतेन त्रयी विद्या सुबोदितव्या । ऋणानि त्रीणि अपाकृत्यानि । त्रयोग्नयः परिचर्य्याः । त्रयः पदार्थाः सम्यगवगन्तव्याः । त्रीणि दुःखानि अपसार्य्याणि इत्येवंविधानि भूयांसि ऐहिकानि आमुष्मिकानि च प्रयोजनवन्ति वस्तूनि अनुशास्ति ॥

ओं शब्दस्य गुप्तार्थः ।

अस्मिन् प्रथम अकारो वर्णः । अकारेणैव ऋग्वेद आरभ्यते । वर्णसमाम्नायोपि । विदेशीयोपि (A)(।)" अक्षराणामकारोस्मि " इति गीतावचनं तमेव प्रस्तौति । कथमेवम् ? प्रधानो ब्रह्मवाचकः सन्नपि ब्रह्मजीवप्रकृतयः इत्येतान् त्रीनपिपदार्थान् अक्षरत्रयेण समुचिनोति । तेन अकारेण आदिः परमेश्वरः, उकारेण ऊष्मा जीवः,

---

तीनों दुखों से छूटने के प्रयत्न करना, इत्यादि इस प्रकार के अनेक ऐहिक और पारलौकिक प्रयोजनों की इन तीन अक्षरों से शिक्षा होती है ।

ओम् शब्द का गुप्तार्थ ।

इसमें प्रथम अकार वर्ण है । हम देखते हैं कि अकार ही से ऋग्वेद और अ आ इ ई इत्यादि देशी लिपि और ए. बी. अलिफ़ ब आदि विदेशी लिपि का आरम्भ होता है । गीता में श्रीकृष्ण भी कहते हैं कि अक्षरों में अकार ईश्वर है । शब्दतत्ववित् वैयाकरण पाणिनि इस शब्द को अकारादि ही "अव" धातु से सिद्ध करते हैं ऐसा क्यों ? यह शब्द प्रधान ब्रह्म वाचक होने पर भी ब्रह्म जीव और प्रकृति इन तीनों पदार्थों को अपने तीनों अक्षरों से सूचित करता है । इससे यह जानना चाहिये कि अकार से आदि परमेश्वर, उकार से ऊष्मा अर्थात् जीव; मकार से माया अर्थात् प्रकृति का ग्रहण है । अब सबों का आदि पुरुष ईश्वर है । इस को दिखलाने के लिये इस अक्षर में भी तद्वाचक अकार आदि में सन्निवेशित किया गया है । वर्ण समाम्नाय और ऋग्वेद में भी इसी कारण जानना । ईश और माया के मध्यगत जीव को सूचित करने के लिये तद्वाचक उकार यहां भी और (पञ्च लघुस्वर) में भी मध्यगत है तथा इन तीनों पदार्थों में अन्तिम प्रकृति है इसे जनाने के लिये

मकारेण मायाप्रकृतिः। ईशस्य सर्वादिमत्वंसूचयितुं तद्वाचक अकारः खलु अस्मिन्नक्षरे आदौ विन्यस्तः । वर्णसमाम्नायेपि ऋच्यपि प्राथम्यमेव सूचयितुम् । ईशमाययोर्मध्ये जीवोस्तीतिदर्शयितुं तद्वाचको मकारोपि इहापि पञ्चसु लघुस्वरेष्वपि मध्यगः। यथैतेषु पदार्थेषु त्रिषु अन्तिमा प्रकृतिरिति ध्वनयितुं तद्वाचको तथैव मकारोपि इहान्तिमः ॥ पञ्चसु वर्गेष्वपि । अक्षरसमाम्नाये सर्वेषां व्यञ्जनानामकारान्वितपाठेन अनयाल्पीयस्योपमया ब्रह्मणः सर्वव्याप्तिं सर्वसमन्वयं तद्विनाऽकिंचित् करत्वञ्च व्यपदिशति ॥ मकाररूपव्यञ्जनवर्णरूपिताया मायायाः स्वरेण विनाऽकिंचिद्करत्वाद् व्यञ्जनस्येव स्वररूपिताभ्यामात्मभ्याम् विना अकर्तृत्वसहकार्यपेक्षित्वाधीनत्वादिधर्माः सूच्यन्ते । गूढार्थाः अत्र संक्षेपतः प्रकाशिताः ग्रन्थविस्तरभयादन्यतो न संगृहीताः । तत्तत् तत्रतत्रैवाध्येतव्यम् ।

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहः । इति ।

तद्वाचक मकार भी इस अक्षर में भी और वर्ण समाम्नाय के पांच वर्गों में भी अन्त में कहा गया है । और एतद्देशीय सर्व व्यञ्जन वर्णों में अकारान्वित पाठ होने से इस छोटी उपमा के द्वारा ब्रह्म की सर्वव्याप्ति सर्वसमन्वय और उसके विना जगत् का अकिञ्चित्करत्व वर्णन किया जाता है । अब ओङ्कार अक्षर में देखते हैं कि " अ " और " उ " ये दोनों वर्ण स्वर और " म " व्यञ्जन हैं और म से माया प्रकृति का ग्रहण किया गया है । इसका गूढ़ तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि जैसे व्यञ्जन वर्ण स्वर वर्ण के विना न तो उच्चारित और न किञ्चित् कार्य साधक होता । अर्थात् व्यञ्जनवर्ण सर्वदा स्वर के अधीन ही रहता है ॥ वैसेही यहां जीवात्मा और परमात्मा के विना प्रकृतिभी तुच्छ अकिञ्चित्करी और इन दोनों ही के अधीन रहती है यह सूचित किया जाता है इत्यादि भाव समझना । ग्रन्थ के विस्तार भय से ओङ्कार शब्द के ग्रन्थान्तरों में पठित अर्थों का यहां संग्रह नहीं किया गया है । इस प्रकार ओङ्कार शब्द ही ईश्वर के मुख्यनाम और इसी के द्वारा ईश्वर की उपासना करनी चाहिये यह सर्व सिद्धान्त सिद्ध हुआ ।

" दुग्धेस्मै वाग् दोहं यो वाचो दोहः "

इति ॥

ओ३म् ॥

अथ द्वितीयः खण्डः प्रारम्भः ॥

संस्कृत—अस्मिन् व्याचिख्यासिष्यमाणे द्वैतीयीके खण्डे प्रजापतिदेवासुरास्त्रयः शब्दा न काश्चिद्देहधारिणीर्व्यक्तीरभिसंबध्नन्ति। अहर्दिवं क्षणे क्षणे इन्द्रियाणि प्रतिशरीरं परस्परं कलहायन्ते। कानिचित् शास्त्रमर्यादां स्मारं स्मारम् अकृत्यविमर्शादपि विरमन्ति। तान्येवात्रदेवशब्देनाभिप्रेयन्ते। कानिचित् स्वाभाविकान् तामसान् गुणानाश्रित्य कृत्याकृत्यानि समुल्लंघ्य अननुष्ठेये कर्म्मणि निपत्य जीवात्मानं विमोहयन्ति। तान्येवात्रासुरशब्देन व्यवह्रियन्ते। इमानि उभयानिदेवसंज्ञानि असुरसंज्ञानि चेन्द्रियाणि एकस्यैव शारीरकस्य पुत्रवत् वर्त्तन्ते। तेनैवाधिष्ठितत्वात्। अतोत्र देही तु प्रजापतिः। इन्द्रियाणि तु प्राजापत्यानि॥ मातापितृशतेभ्योपि वत्सलतरोपनिषदनेकविधैरुपायैर्मन्देभ्योजनेभ्यो गूढार्थं बुबोधयिषुराख्यायिकाव्याजेन महत्तत्त्वमुपदेष्टुमुपक्रमते। देवासुरा इत्यादिना—

भाषाः—इस व्याचिख्यासिष्यमाण (जिस का व्याख्यान आगे होने वाला है) द्वितीय खण्ड में प्रजापति १ देव २ और असुर ३ ये तीनों शब्द किन्हीं देह धारी व्यक्ति विशेष वाचक नहीं हैं। प्रतिदिन क्षणक्षण इन्द्रिय प्रति शरीर में युद्ध करते हैं। इन में कोई इन्द्रिय शास्त्र मर्यादा को स्मरण करके अकृत्य के विचार से भी निवृत्त रहते हैं। वे ही इन्द्रिय यहां देव कहे गये हैं। और कोई इन्द्रिय स्वाभाविक निजतमोगुणों को लेकर कृत्य और अकृत्य विचार को त्याग अनुचित कर्म में गिरकर जीवात्मा को भी मो-

हित करते हैं। वे ही यहां असुर कहे गये हैं। ये दोनों (देव और असुर संज्ञक इन्द्रिय) एक ही जीवात्मा के पुत्र सदृश हैं। क्योंकि यदि जीवात्मा इनका अधिष्ठाता न हो तो स्वयं इन की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि इन्द्रिय सब अचेतन और एक जीवात्मा ही इस में चेतन है। अतः जीवात्मा इन का पितावत् स्वामी। और ये पुत्रवत् सेवक हैं। इसी कारण इस प्रकरण में देही (आत्मा) को प्रजापति और इन्द्रियों को पुत्र कहते हैं। सहस्रों माता पिता से बढ़कर आदर करने वाली उपनिषद् अनेक विध उपायों से मन्द जनों को सिखलाने की इच्छा करती हुई आख्यायिका के व्याज से महान् ब्रह्म तत्त्व के उपदेश के लिये देवासुरोपाख्यान को आरम्भ करती है।

देवासुरा ह वै यत्र संयेतिरे। उभये प्राजापत्यास्तद्ध देवा उद्गीथमाजह्रुरनेनैनानभिभविष्याम इति (१) ॥ १ ॥

देवासुराः। ह। वै। यत्र। संयेतिरे। उभये। प्राजापत्याः। तत्। ह। देवाः। उद्गीथम्। आजह्रुः। अनेन। एनान्। अभिभविष्यामः। इति ॥ १ ॥

भाष्यम्—हवै निपातौ निश्चयं द्योतयतः। देवाश्च असुराश्च इति देवासुराः। द्योतनार्थाद् दीव्यतेर्धातोरचि देवशब्दसिद्धिः। ये। स्वेष्वेव असुषु प्राणेषु प्राणक्रियासु रमन्ते ते। असुराः। शास्त्रपरिशीलनजनितज्ञाननिर्मला इन्द्रियवृत्तयः देवाः। तद्विपरीता असुरा इत्यर्थः। ते निश्चयेन। यत्र यस्मिन् निमित्ते। संयेतिरे। युयुधिरे। स-

(१) यही कथा बृहदारण्यकोपनिषद् प्रथम अध्याय तृतीय ब्राह्मण में भी आई है। इन दोनों में किञ्चित्मात्र का भेद है। इनकी एकता करने के लिये वेदान्त-सूत्र ३। ३। ६ । देखो।

स्पूर्वकोयततिः संग्रामार्थः ॥ इतरेतरविषयापहरणाय संग्रामं कुर्व-न्तः । शास्त्रोद्दीपितानीन्द्रियाणीतराण्युत्पथगामीनि अन्यायाचर-णात् निवर्त्तयन्ति । तानितु शास्त्रीयाण्यवाकृत्येप्रवर्त्तयितुंयतन्ते । परस्परमिन्द्रियाणि युध्यन्ते । अयमेव संग्रामोऽनादिकालप्रवृत्तः सर्वैः इत्थं प्रतिशरीरमनुभूयमानो देवासुरसंग्रामोनाम्नाभिधीयते ॥ उभ-येप्राजापत्याः । उभयविधानि तानि इन्द्रियाणि प्रजापतेः देहिनः अपत्यानि । यतो जीवोज्ज्वलितत्वादेवाचेतनानीन्द्रियाणि प्रवर्त्तन्ते निवर्त्तन्ते वा । अतः प्रजापतेरपत्यानि ॥ तत्तस्मात्कारणात् ह किल प्रसिद्धा देवाः । शास्त्रीयाणि इन्द्रियाणि । उद्गीथम् उद्गीथभक्त्युप-लक्षितं औद्गात्रं यज्ञानुष्ठानमाजह्रुः । आहृतवन्तः । कृतवन्तः । यद्वा । उद्गीथम् । ओंकारम् । आजह्रुः । आनीतवन्तः । तस्योपासनां कर्तु-मारेभिर इत्यर्थः । कस्माद्धेतोः ? अनेन । उद्गीथेन करणेन । एना-न् । असुरान् । अशास्त्रीयाणि इन्द्रियाणि अभिभविष्यामोजेष्याम इति ॥

अनुवादः—प्रजापति (१) के प्रसिद्ध सन्तान देव (२) और असुर (३) दोनों युद्ध के लिये जिस कारण संनद्ध हुए । इस कारण देवों ने असुरों को जीतने के हेतु उद्गीथ (ओङ्कार) के आश्रित हुए । यद्वा । उद्गीथ की उपासना रूप कर्म में प्रवृत्त हुए ॥ ४ ॥

पदार्थः—(उभये) दोनों (प्राजापत्याः) प्रजापति के पुत्र (ह (५) (वै) (६) परम प्रसिद्ध (देवासुराः) देव और असुर (यत्र) जिस कारण (संयेतिरे) युद्ध करने के लिये प्रवृत्त हुए (तत्) उस कारण (ह) निश्चय (देवाः)

नोट (१) आत्मा (२) उत्तम इन्द्रिय प्रवृत्ति । (३) दुष्ट इन्द्रिय प्रवृत्ति । खण्ड के अन्त में इस शब्द के ऊपर समीक्षा देखो । (४) मन्द जनों की प्रवृत्ति के हेतु कथा रूप में तत्त्व का उपदेश किया गया है । कथा यथार्थ नहीं । केवल रूपक मात्र है । द्वितीय मन्त्र की टिप्पणी देखो ।

(५) ह शब्द इतिहास का स्मारक प्रायः होता है । (६) वै का अर्थ निश्च-य भी होता है ।

दे- न-उद्गीथम्) उद्गीथ सम्बन्धी कर्म्म । यद्वा ओङ्कार को (आजन्हुः) ले आये। अर्थात् ओंकार की उपासना करने लगे। (अनेन) इस उद्गीथ से (एनान्) इन असुरों को (अभिभविष्यामः) जीतेंगे। (इति) इस हेतु ।

भाष्याशय—दिव धातु से देव शब्द की सिद्धि होती है। और अपने प्राणों में अर्थात् प्राण की क्रियाओं में जो रमित हों उन्हें असुर कहते हैं। असु+रम् इन दो शब्दों से यहां असुर शब्द की सिद्धि माननी चाहिये। शास्त्र के अभ्यासमे जनित जो ज्ञान, उससे निर्मल जो इन्द्रिय वा इन्द्रियकी वृत्तिएं। वे देव, और तद्विपरीत वृत्ति वाले इन्द्रिय असुर हैं। शास्त्रोद्दीपित इन्द्रिय इतर उत्पथगामी इन्द्रियों को अन्याय आचरण से रोकते हैं। और उत्पथगामी इन्द्रिय शास्त्रीय इन्द्रियों को अकृत्य में ले जाने के लिये सर्वदा प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार परस्पर इन्द्रिय युद्ध कर रहे हैं। इस संग्राम को जो अनादि काल से प्रवृत्त है जिस को सब कोई प्रतिदिन अनुभव कर रहे हैं और जो प्रति शरीर में वर्त्तमान है देवासुर संग्राम कहते हैं॥ १ ॥

संस्कृत—संप्रति अनयोर्मध्ये कतरो विजेष्यत इति वक्ष्यति। लोके अधीतशास्त्रो विज्ञतरः खलु अनुत्तमं प्रतीकारमनुसंधाय सपत्नान् अभिभवति । ईश्वराश्रयादन्यः को नाम प्रतीकारः प्रशस्यतरो भवेत् । महतः शत्रोः समूलघाताय महानेव आश्रयितव्यः । अतोदेवा ईश्वराभिधानेषु सर्वोत्तमं प्रणवमशिश्रियुः। परन्तु प्रणवं द्वारीकृत्य क केनोपायेन च ब्रह्मोपासनीयमिति तु देवा न सम्यग् बुबुधिरे ॥ अन्तरायाश्चापि शुभेकर्माणि भूयांस आपतन्ति । इत्यादि सर्वं स्वयमुपनिषद् दर्शयिष्यति। केपि नासाग्रमवलोकयन्तः, अन्ये श्रोत्रेपिधाय तदन्तर्गतान् संततमुत्पद्यमानान् अहतान्ध्वनीन् श्रण्वन्तः, परे मनसा इन्द्रियाणि निगृह्य हृदयं पुण्डरीकाकारं सहस्रदलम् आत्मानुगतं च कल्पयन्तः ब्रह्मोपासते। केचित्तु ब्रह्मवादिनो निरतिशय सर्वज्ञं सर्वान्तर्यामि तज् ज्ञात्वा तद्विभूतीः सर्वत्रैव निरीक्षमाणाः सर्वदा सर्वत्रैवध्यायन्ति इत्थं बहुविधेषूपासनेषु कतमत् निःश्रेयस्करमित्यपि अवधारिष्यति ॥

भाषा—आगे दिखलाया जाता है कि इन दोनों में विजय किस को और किस प्रकार से होता है। लोक में प्रत्यक्ष है कि शास्त्रीय पुरुष विशेष ज्ञानी होने से अनुत्तम प्रतीकारकर अज्ञानी को परास्त कर लेता है। अतः देव ओङ्कार रूप महायोद्धा की उपासनारूप आश्रय में असुरों के विजयार्थ आये। यह युक्त है। इस में सन्देह नहीं कि ऐसे शत्रुओं के विजयार्थ वैसे ही महान् योद्धा के आश्रय में जाना ही ठीक है। परन्तु विजय शीघ्र नहीं होता और शुभ कर्म में विघ्न भी अनेक आगिरते। इस विषय को उपनिषद् स्वयं आगे दिखलावेगी। इस के साथ २ यह भी निरूपित होगा कि ओङ्कार के द्वारा ईश्वर की उपासना से और कहां करनी चाहिये।

कोई नासाग्र को देखते हुये, कोई श्रोत्रेन्द्रिय को मूंद उन में सदा उत्पद्यमान अनहद शब्दों को सुनते हुए, कोई नेत्र की अन्तर्गत पुत्तलिका को ईश्वररूप मानते हुए और कोई मन से इन्द्रियों को निग्रह कर कमल सदृश सहस्र दलवाले आत्मा सहित हृदय को जानते हुए उस की उपासना करते हैं और कोई ब्रह्मज्ञानी निरतिशय सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी उस को जान उस की विभूतियों को सर्वत्र ही देखते हुए सर्वत्र सर्वदा एकाग्र चित्त से ध्यान करते हैं। इस प्रकार बहुविध उपासनाओं के मध्य कौन निश्रेयस्कर है इस को भी निश्चय करगी।

ते ह नासिक्यं प्राणमुद्गीथमुपासांचक्रिरे। तꣳहासुराः पाप्मनाविविधुस्तस्मात्तेनोभयं जिघ्रति सुरभि च दुर्गन्धि च पाप्मना ह्येष विद्धः ॥ २ ॥

ते। ह। नासिक्यम्। प्राणम्। उद्गीथम्। उपासाञ्चक्रिरे। तम्। ह। असुराः। पाप्मना। विविधुः। तस्मात्। तेन। उभयम्। जिघ्रति। सुरभि। च।

दुर्गन्धि । च । पाप्मना । हि । एषः । विद्धः ॥ २ ॥

भाष्यम्-ते देवाः शास्त्रोद्भासितानि इन्द्रियाणि । ह निश्चयं । नासिक्यम् । नासिकायां भवं प्राणं वायुम् अधिष्ठानीकृत्य इत्यध्याहार्यम् । उद्गीथं प्रणवम् ओङ्कारम् अर्थात् तद्प्रतिपाद्यं ब्रह्म उपासाश्चक्रिरे उपासितवन्तः । असुरा दुष्टचित्तवृत्तयः । तं नासिक्यं प्राणं उपासनार्थं देवैरधिष्ठानीकृतं विदित्वा पाप्मना पापेन विविधुः विद्धवन्तः । स्वभावतः पाप्मवत्त्वाद्देवासुरैरपि विद्धः प्राणः शुद्धस्याशुद्धत्वकरणाशक्यात् । अर्थात् नेदमुपासनास्थानं समुचितमिति विघ्नं प्राप्य देवा ज्ञातवन्त इत्यर्थः ! हि यस्मात् कारणात् सुरभि च सौरभ्ययुक्तं दुर्गन्धि च दुर्गन्धियुक्तं च । उभयं वस्तु तेन नासिकाप्राणेन जिघ्रति उपादत्ते । देहीति कर्तृपदमध्याहार्य्यम् । तस्मादनुमीयते इत्यध्याहार्यम् । एषः प्राणः पाप्मना पापेन विद्धः अवरुद्धो गृहीतोऽस्ति । अतो नेदमुपासनास्थानं समुचितमित्यवधेयम् । अयं भावोऽस्ति परमं पूततमं ब्रह्म । तदपचित्यै, नासिकासुगन्धिदुर्गन्धियुक्तत्वात् ब्रह्मासनं भवितुं नार्हति । अतो ये नासिकाग्रं तद्गतं वायुं वा स्थानीकृत्य उद्गीथमुपासते । न ते फलभाजो दुखमेव सर्वदा यान्ति । इत्याख्यायिकाशयः । अग्रेपि एवमेव ज्ञातव्यम् ॥

अनुवाद-वे प्रसिद्ध (देवगण (१) नासिकागत प्राण को (अधिष्ठान बना कर) उद्गीथ की उपासना करने लगे । असुरों ने पाप से उसे विद्ध किया । जिस कारण उस प्राण से (जीवात्मा) सुगन्धि और दुर्गंधि दोनों को सूंघता है इस से (विदित होता है कि) यह प्राण पाप से गृहीत है (२) ॥ २ ॥

(१) संस्कृत के वाक्यों में कहीं कहीं अन्यपदों का बहुत अध्याहार करना पड़ता है । उपनिषद् अपने भाव को बहुत संक्षेप से वर्णन करती है । इस कारण विना अध्याहार से आशय प्रकट नहीं होता ।

(२) शङ्कराचार्य्य का अर्थ-वे (देव) नासिकागत प्राण रूप उद्गीथ की उपासना कर ने लगे उस प्राण को असुरों ने पाप से वेधन किया इस कारण उससे (लोक) सुगन्धि और दुर्गन्धि दोनों सूंघता है जिस हेतु वह पाप से विद्ध है ॥ २ ॥

पदार्थः—(ह) प्रसिद्ध (ते) वे अर्थात् शास्त्रोद्भासित इन्द्रिय (नासिक्यं) नासिकागत (प्राणम्) प्राणवायु को अधिष्ठान करके (उद्गीथम्) ओङ्कार अर्थात् तत् प्रतिपाद्य ब्रह्म की (उपासां चक्रिरे) उपासना करने लगे (तं) उस नासिकागत प्राण को (देवों ने नासिक्य प्राण को उपासनार्थ अधिष्ठान बनाया है इसे जान) (ह) निश्चय (असुराः) असुरों ने (पाप्म-

प्रकरणस्थ उद्गीथ पद से शङ्कराचार्य्य ने कहीं उद्गीथ सम्बन्धी कर्म, कहीं उद्गाता और कहीं उद्गीथ शब्द वाच्य ओङ्कार अर्थ किया है।

"तेहदेवानासिक्यं। नासिकायां भवं चेतनावन्तं घ्राणं प्राणम्। उद्गीथकर्त्तारमुद्गातारम्। उद्गीथभक्त्या उपासाञ्चक्रिरे। कृतवन्त इत्यर्थः। नासिक्यप्राणदृष्ट्या उद्गीथाख्यमक्षरमोङ्कारमुपासाञ्चक्रिरे इत्यर्थः"। शङ्कराचार्यः।

अर्थ–उन देवों ने नासिकास्थित और चेतनवान् प्राण को उद्गीथ (उद्गीथ सम्बन्धी कर्म) का कर्त्ता उद्गाता (मानकर) उद्गीथभक्ति से उसकी उपासना की। अर्थात् नासिका गत प्राण की दृष्टि से उद्गीथ नाम धारी ओङ्कार अक्षर की उपासना की। शङ्कराचार्य्य के सम्पूर्ण प्रकरणस्थ आशय यों हैं कि शास्त्रोद्भासित इन्द्रियप्रवृत्तिएं देवनाम से और तद्विपरीत वृत्तिएं असुरनाम से यहां कहीं गई हैं। देवलोग असुर विजयार्थ सामवेद विहित औद्गातृ (उद्गाता सम्बन्धी) कर्म में प्रवृत्त हुए। परन्तु इस कर्म में उद्गाता ऋत्विक् की परम आवश्यकता है। अतः वे देव क्रमशः नासिकागत प्राण, वचन, चक्षु, श्रोत्र और पश्चात् मन को उद्गाता बनाकर उद्गीथ कर्म प्रारम्भ किया। यद्वा इन सबों की दृष्टि से ओङ्कार की उपासना की। परन्तु असुरों ने उन सब उद्गाताओं को अधर्म। संग रूप पाप से विद्ध=अपहत=बाधित किया। अतः अन्त में मुख्य। मुखस्थित (जो सर्वम्भरि अर्थात् अन्य सकल प्राणों का भरण पोषण करने वाला भी कहता है) प्राण की उपासना से देवों का विजय और असुरों का पराजय हुआ। इत्यादि॥

विचारणीय इस में यह है कि नासिकागत प्राण वचन आदि जड़ और अनुपास्य होने से उन में उपासना की संभावना ही नहीं हो सकती। फिर उन में देव लोग कैसे उपासना कर सकते। शङ्कराचार्य जो यह कहते हैं कि "चेतनावन्तं घ्राणं प्राणम्"

ना) पाप के द्वारा (विविधुः) विद्ध किया अर्थात् विघ्न किया (हि) जिस कारण (तेन) नासिकागत प्राण से (सुरभि च) सुगन्धि अथवा (दुर्गन्धि च) दुर्गन्धि (उभयम्) दोनों को जीवात्मा (जिघ्रति) सूंघता है । (तस्मात्)इस से अनुमान होता है कि (हि) निश्चय (एषः) यह प्राण (पाप्मना) पाप से (विद्धः) गृहीत=युक्त है ॥ २ ॥

सो समझ में नहीं आता कि नासिकागत प्राण चेतन कैसे हो सकता । यदि उसे चेतन मान भी लिया जाय तथापि वचन की चेतनता सिद्ध नहीं हो सकती । फिर वचन दृष्टि से उद्गीथ की उपासना कैसे । । और मुखस्थित प्राण की उपासना से देव विजयी हुए । यह भी कथन ठीक नहीं । क्योंकि वह कौनसा मुखस्थित प्राण है जो सुगन्धि दुर्गन्धि से रहित और सर्वम्भरि है । नासिकागत और मुखस्थित प्राण में क्या एकतानता का सम्बन्ध नहीं है ? क्या दोनों ही वायुमय नहीं हैं ? यदि हैं तो एक पापविद्ध और दूसरा अपापविद्ध यह कैसे संभवित हो सकता । जब नासिका गत प्राण को आप अपवित्र, अशुद्ध और पापविद्ध मानते हैं तो अवश्य ही मुखस्थित प्राण को वैसाही मानना पड़ेगा क्योंकि खाद्य और अखाद्य दोनों प्रकार के पदार्थों को यह भी खाता है फिर अपापविद्ध कैसे । शङ्कराचार्य का उत्तर यह है यथा—

" ननु नासिक्योपि प्राणो वाय्वात्मा यथामुख्यः । तत्र नासिक्यः प्राणः पाप्मनाविद्धः । प्राण एव सन्नमुख्यः । कथम् । नैषदोषः ? । स्थानकरणवैगुण्याद् विद्धो वाय्वात्मापि सन् मुख्यः स्थानदेवतावलीयस्त्वान्न विद्ध इति युक्तम् । यथा वास्यादयः शिक्षावत् पुरुषाश्रयाः कार्यविशेषं कुर्वन्ति । नान्यहस्तगताः । तद्वत् दोषवद्घ्राणसचिवत्वाद् विद्धा घ्राणदेवता न मुख्यः ॥

अर्थ—" ननु नासिकागत प्राण भी वायुरूप है जैसे मुख्यगत प्राण है । उनमें नासिकागत प्राण पाप से विद्ध हुआ । वायु ही होता हुआ मुखगत प्राण कैसे पाप से विद्ध न हुआ ? यह दोष नहीं है । क्यों । स्थान के कारण इन्द्रिय की विगुणता रूप दोष से वह तो विद्ध हुआ और वायुरूप होता हुआ भी मुखगत प्राण स्थानगत देवता के अत्यन्त बलवान् होने से विद्ध नहीं हुआ । यह युक्त है । जैसे वास्य (बढ़ई के शस्त्रविशेष) आदि शस्त्र शिक्षित पुरुष के आश्रय होने से कार्य विशेष को करते हैं । अन्य (अशिक्षित) हस्तगत नहीं । तद्वत् दोषवाले प्राणरूप सहाय युक्त होने से नासिका गत प्राण देवता तो विद्ध हुई और मुखगत प्राण नहीं " ।

भाष्याशय-इस द्वितीय मन्त्र के द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि ब्रह्म की उपास के लिये नासिका स्थान उपयुक्त नहीं। क्योंकि ब्रह्म परम पवित्र। नासिका अपवित्र। यह दुर्गन्धि सुगन्धि दोनों का स्थान है । अतः इस स्थान को देखते हुए जो ब्रह्म की उपासना करते हैं वे सर्वदा दुःख भागी होते हैं। इस से (संप्रेत्य-

---

सम्पूर्ण का भाव यह है कि इन दोनों के दो स्थान होने से इन की देवताएं भी भिन्न २ हैं। नासिकागत प्राण की देवता दुर्बल और अशिक्षित होने से वह तो पाप विद्ध हुई। परन्तु मुखगत प्राण की देवता बलीवान् और शिक्षित होने से पापविद्ध नहीं हुई। एक देवता को बलिष्ठ और अन्य को दुर्बल मानने में यहां कोई युक्ति नहीं । और वह देवता है कौन ? शङ्कराचार्य ने आडम्बर मात्र बढ़ाया है । वास्तविकतत्वप्रकाशित नहीं किये ॥

अतः नासिका, वाणी, नेत्र आदिकों को अधिष्ठान वा पूजास्थान मानकर ओ-ङ्कार की उपासना करने लगे। परन्तु पश्चात् तत्तत् स्थानों की अपवित्रता ज्ञात होने पर अन्त में "मुख्यप्राण" आत्मा को अधिष्ठान बना ईश्वर की उपासना करते हुए वे देव विजयी हुए। इत्यादि ही अर्थ सुसंगत प्रतीत होता है। यहां पर अध्यात्म वर्णन के द्वारा उ-पनिषद् शिक्षा देती है कि इस लघु शरीर में ईश्वर का आसन हृदयस्थित आत्मा ही है। यदि अध्यात्म उपासना करना चाहते हो तो उसी को अधिष्ठान बनाओ । परन्तु यहां भी अपनी उपासना की समाप्ति मत करो । अतः तृतीय खण्ड में अधिदैवत उपासना को दिखलाती हुई ओङ्कार का पूजास्थान वा लक्ष्य सर्वव्यापक ईश्वर को ही बतलाती है।

एवम् मुख्यप्राण जीवात्मा को सर्वभरि । सुगन्धिदुर्गन्धि रहित और किसी अंश में अपहतपाप्मा आदि विशेषण भी दे सकते हैं । अतः मुख्यप्राण शब्द से जीवात्मा का ग्रहण करना प्रथमपक्ष। और इस शरीर में भी ईश्वर की व्याप्ति होने से प्राणशब्द वाच्य ईश्वर को हृदयस्थित प्राणप्रिय समझकर उसकी उपासना करनी इत्यादि भाव भाष्य में देखो ।

पुनरपि शङ्कराचार्य कृत अर्थ में यह शङ्का उपस्थित होती है कि असुरों ने यदि नासिका वाणी आदिकों को पाप से विद्ध वा संसर्ग किया तो पाप विद्ध होने से केवल

नासिकाग्रंस्वं दिशश्चानवलोकयन्) यह गीता वचन चिन्तनीय है । इस का आशय यह है कि अपनी नासिका के अग्रभाग को देख और अन्य दिशाओं को न देखते हुए ब्रह्म की उपासना करे ॥ २ ॥

अथ ह वाचमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे । ताᳪ हासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तयोभयं वदति सत्यञ्चानृतं च । पाप्मना ह्येषा विद्धा ॥ ३ ॥

अथ । ह । वाचम् । उद्गीथम् । उपासाञ्चक्रिरे ।

पाप विशिष्ट वस्तुओं के ग्राहक वा विषयी उन्हें होने चाहिये थे । उभय ग्राहक वा विषयी कैसे । अर्थात् नासिकागत प्राण से केवल दुर्गन्धि, वचन से असत्य, चक्षु से अदर्शनीय, श्रोत्र से अश्रवणीय और मन से असङ्कल्पनीय वस्तु ही ग्रहीत होनी चाहिये सुगन्धादि नहीं । यदि आप ऐसा कहें कि बृहदारण्यक प्रथमाध्याय तृतीय ब्राह्मण के अनुसार सुगन्धि आदि की अविवक्षा है अर्थात् केवल दुर्गन्धि आदि से ही तात्पर्य है । सुगन्धि आदि से नहीं क्योंकि (यदेवेदमप्रतिरूपं वदति । अप्रति रूपं जिघ्रति इत्यादि) इन प्रमाणों से अप्रतिरूप अर्थात् शास्त्रनिषिद्ध दुर्गन्धादि एक ही का ग्रहण करेंगे दूसरे का नहीं । क्योंकि ये दोनों प्रकरण समान हैं । इत्यादि आपका कथन ठीक नहीं क्योंकि पुनः २ सुगन्धादि शब्दों का पाठ प्रत्येक मन्त्र में देखते हैं । यदि उपनिषद् को दोनों से तात्पर्य नहीं होता तो प्रत्येक मन्त्र में क्यों उन्हें पढ़ती । और मुख्य प्राण के वर्णन में (नैवैतेनसुरभिन दुर्गन्धि विजानाति) इत्यादि का निर्धारण भी नहीं हो सकता । क्या उपनिषद् को यह दोष नहीं सूझता था । फिर सुगन्धादि पदों का पाठ क्यों किया । यह शङ्का आपके मत में दुर्वार है । हमारे अर्थ में तो न उपनिषद् में दोषारोपण और न अविवक्षा आदि करना पड़ता । और दोनों उपनिषद् की सङ्गति भी बैठ जाती इत्यादि अनुसन्धान कर लेना । इन हेतुओं से शङ्कराचार्य के और तदनुयायी अन्य टीकाकारों के अर्थ ठीक नहीं । अलमति विस्तरेण विवेकिजनेषु ॥

ताम् । ह । असुराः । पाप्मना । विविधुः । तस्मात् । तया । उभयम् । वदति । सत्यम् । च । अनृतम् । च । पाप्मना । हि । एषा । विद्धा ॥ ३ ॥

भाष्यम्—अथ नासिक्यप्राणस्य अनधिष्ठेयत्वविज्ञानानन्तरं । ह निश्चयेन वाचं वचनमधिष्ठानीकृत्य । उद्गीथमुपासांचक्रिरे । तां वाचम् । असुराः पाप्मना पापेन विविधुः । यतः । तया वाचा सत्यं च । अनृतं मिथ्या च । उभयं पुरुषो वदति । ब्रवीति । तस्मात् हि निश्चयेन । एषा वागपि पाप्मना पापेन विद्धा गृहीतास्ति । प्रकृत्या पाप्मविद्धत्वाद्देवासुरैरपि विद्धा । शुद्धस्याशुद्धत्वकरणाशक्यात् । अतः केवलया वाचापि ब्रह्मोपासनं न स्यात् । ये तु ब्रह्मनामधेयमोंकारादिकं केवलं वाचा सर्वदा आवर्त्तयन्ति तेनैवसंतुष्टास्तेपि मूढा एव इति शिक्षते ॥ ३ ॥

अनुवादः—अनन्तर वचन को अधिष्ठान करके (वे देव) उद्गीथ की उपासना करने लगे । असुरों ने उस को भी पाप से विद्ध किया । जिस कारण वचन के द्वारा सत्य और असत्य दोनों का व्यवहार जीवात्मा करता है उस कारण निश्चय वचन भी पाप से युक्त है ॥३ ॥

पदार्थः-(अथ) अनन्तर (ह) निश्चय (वाचम्) वचन को अर्थात् वचन को अधिष्ठान बना कर (उद्गीथम्) उद्गीथ की (उपासाञ्चक्रिरे) उपासना करने लगे (ताम्) उस वचन को (ह) निश्चय (असुराः) दुष्ट प्रवृत्तियों ने (पाप्मना) पाप से (विविधुः) विद्ध किया । जिस कारण (तया) उस वचन के द्वारा (सत्यंच) सत्य (अनृतंच) और असत्य (उभयम्) दोनों को (वदति) बोलता है (तस्मात्) उस कारण (हि) निश्चय (एषा) यह वाणी (पाप्मना) पाप से (विद्धा) गृहीत है ॥ ३ ॥

भाष्याशयः—भाव यह है कि बहुत लोग केवल वाणी से ओङ्कार आदि ब्रह्म नाम की आवृत्ति वा जप किया करते हैं और समझते हैं कि जप

की संख्या जितनी होगी उतने ही कल्याण है और इसी जप से संतुष्ट होकर अन्य जिज्ञासा से निवृत्त हो जाते हैं । बहुत लोग तो केवल माला फेरने को ही धर्म्म समझते हैं। परन्तु परम कल्याणकारिणी उपनिषद् इस बात को मना करती है। इस जप से कुछ भी लाभ नहीं । क्योंकि जिस वाणी से तुम जप करते हो वह तो सत्य और असत्य से मिश्रित है । ईश्वर केवल सत्य ही है। उस सत्य की प्राप्ति के लिये वाणी को प्रथम सत्य बनाओ। केवल वाणी मात्र से जप करने वाले भी बालकवत् ही हैं ॥ ३ ॥

अथ ह चक्षुरुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे। तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं पश्यति दर्शनीयं चादर्शनीयं च। पाप्मना ह्येतद्विद्धम्॥४॥

अथ । ह । चक्षुः । उद्गीथम् । उपासाञ्चक्रिरे । तद्ध । असुराः । पाप्मना । विविधुः । तस्मात् । तेन। उभयम् । पश्यति । दर्शनीयम् । च । अदर्शनीयम् । च । पाप्मना । हि । एतत् । विद्धम् ॥ ४ ॥

भाष्यम्—वागशुद्धिज्ञानानन्तरम् । निश्चयेन चक्षुः । नेत्रं । नेत्रगतकनीनिकामधिष्ठानीकृत्य। उद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे इत्यादि । सुगममन्यत् । नेत्रे यः पुरुषो दृश्यते तमेव लक्ष्यीकृत्य केपि उद्गीथमुपासते । तदपि न समुचितमिति शिक्षते ॥ ४ ॥

अनुवाद—अनन्तर नेत्र को अधिष्ठान बना (वे देव) उद्गीथ की उपासना करने लगे । असुरों ने उस को भी पाप से विद्ध किया (जिस कारण) नेत्र के द्वारा दर्शनीय और अदर्शनीय दोनों को (जीवात्मा) देखता है इस कारण निश्चय यह भी पाप से युक्त है ॥ ४ ॥

पदार्थः—(अथ) अनन्तर। वे देव (चक्षुः) नेत्रगत कनीनिका को अधिष्ठान मानकर (उद्गीथम्) उद्गीथ की (उपासाञ्चक्रिरे) उपासना करने लगे। (ह) यह बात प्रसिद्ध है जिस कारण (तेन) उस नेत्र से (दर्शनीयञ्च) देखने योग्य (अदर्शनीयञ्च) नहीं देखने योग्य (उभयम्+पश्यति) दोनों को जीवात्मा देखता है (तस्मात्) उस कारण (पाप्मना) पाप से (हि) निश्चय (एतत्) यह नेत्र (विद्धम्) विद्ध अर्थात् गृहीत है ॥ ४ ॥

भाष्याशयः—इस का भाव यह है कि बहुत लोग नेत्र के बीच जो बहुत छोटा पुरुष विदित होता है उसी को लक्ष्य कर उद्गीथ की उपासना करते हैं सो भी ठीक नहीं। इत्यादि ॥ ४ ॥

अथ ह श्रोत्रमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे। तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयꣳ शृणोति श्रवणीयञ्चाश्रवणीयञ्च। पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥ ५ ॥

अथ। ह। श्रोत्रम्। उद्गीथम्। उपासाञ्चक्रिरे। तत्। ह। असुराः। पाप्मना। विविधुः। तस्मात्। तेन। उभयम्। शृणोति। श्रवणीयम्। च। अश्रवणीयम्। च। पाप्मना। हि। एतत्। विद्धम् ॥ ५ ॥

भाष्यम्-अथ। चक्षुरशुद्धिज्ञानानन्तरं ह प्रसिद्धाः देवाः। श्रोत्रं। श्रोत्रे प्रतिक्षणमुत्पद्यमानं शब्दमधिष्ठानीकृत्य। उद्गीथम्। उद्गीथशब्दवाच्यं ब्रह्म। उपासाञ्चक्रिरे भावयाम्बभूवुः। असुरा ह। देवचिकीर्षितं विदित्वा तत् श्रोत्रं पाप्मना। पापेन विविधुः विद्धवन्तः। इदमपि

न ब्रह्मार्हस्थानमिति विद्धंप्राप्य देवा ज्ञातवन्तः । तथाहि । हि यस्मात् तेन श्रोत्रेण श्रवणीयञ्च श्राव्यम् । अश्रवणीयञ्च अश्राव्यञ्च । एतत् । उभयं शृणोति । मनुष्य आकर्णयति । तस्मात् ज्ञायते एतत् श्रोत्रमपि पाप्मना । पापेन । विद्धं । युक्तं श्रोत्रे उत्पद्यमानं शब्दमेव ब्रह्मानुशासनं मन्यमानास्तमेवोपासते । तदपि अनुचितमिति ध्वन्यते ॥ ५ ॥

अनुवाद–अनन्तर (वे देव) श्रोत्र में उत्पद्यमान शब्द को अधिष्ठान बनाकर उद्गीथ शब्द वाच्य ब्रह्म की उपासना करने लगे । असुरों ने उसे भी विद्ध किया (जिस कारण) इस श्रोत्र के द्वारा श्राव्य और अश्राव्य दोनों प्रकार के शब्दों को आदमी सुनता है इस से ज्ञात होता है कि यह श्रोत्र भी पाप से युक्त है ॥ ५ ॥

पदार्थः—(अथ) अनन्तर (ह) प्रसिद्ध देव गण (श्रोत्रम्) श्रोत्र के शब्द को अधिष्ठान करके (उद्गीथम्) उद्गीथ की (उपासाञ्चक्रिरे) उपासना करने लगे । (असुराः) असुरगण (ह) निश्चय (तत्) उस श्रोत्र को (पाप्मना) पाप से (विविधुः) विद्ध किया (हि) क्योंकि (तेन) उस श्रोत्र से (श्रवणीयञ्च) सुनने योग्य (अश्रवणीयञ्च) नहीं सुनने योग्य (उभयम्) दोनों प्रकार के शब्दों को (शृणोति) जीवात्मा सुनता है (तस्मात्) उस कारण से ज्ञात होता है (एतत्) यह श्रोत्र (पाप्मना) पाप से (विद्धम्) युक्त है ॥ ५ ॥

भाष्याशयः—बहुत से अज्ञानी मनुष्य श्रोत्रोत्पन्न शब्द को ही ईश्वर-वाणी समझ कर ध्यान करते हैं इसको भी इस मन्त्र के द्वारा उपनिषद् निषेध करती है ॥ ५ ॥

अथ ह मन उद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे । तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयꣳ सङ्कल्पयते सङ्कल्पनीयञ्चासङ्कल्पनीयञ्च । पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥ ६ ॥

अथ । ह । मनः । उद्गीथम् । उपासाञ्चक्रिरे । तत् । ह । असुराः । पाप्मना । विविधुः । तस्मात् । तेन । उभयम् । सङ्कल्पयते । सङ्कल्पनीयम् । च । असङ्कल्पनीयम् । च । पाप्मना । हि । एतत् । विद्धम् ॥ ६ ॥

भाष्यम्—अथ श्रोत्राशुद्धिविज्ञानानन्तरं । ह प्रसिद्धाः देवाः । मनः मानसं हृदयम् । आधिष्ठानी कृत्य उद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे । उद्गीथं भावितवन्तः । एतद्देवचिकीर्षितं ज्ञात्वा असुराः असुरगणाः दुष्टेन्द्रिय प्रवृत्तय इत्यर्थः । ह निश्चितं तत् मनः पाप्मना विविधुः पापेन विद्धवन्तः । इदमपि न ब्रह्मसपर्यार्हं स्थानमिति देवा ज्ञातवन्त इत्यर्थः । हि यस्मात् तेन मनसा सङ्कल्पनीयञ्च सङ्कल्पयोग्यञ्च । असङ्कल्पनीयञ्च असङ्कल्पयोग्यञ्च । एतदुभयं सङ्कल्पयते । तस्मात् ज्ञायते एतत् मनः पाप्मना विद्धं युक्तम् ॥ ६ ॥

अनुवाद—अनन्तर (वे प्रसिद्ध देवगण=शास्त्रीय इन्द्रियों की प्रवृत्तियां) मन को अधिष्ठान बनाकर उद्गीथ की उपासना करने लगे। निस्सन्देह असुरों ने उसे भी पाप से विद्ध किया (जिस कारण) उस मन के द्वारा संकल्पयोग्य और असंकल्पयोग्य इन दोनों विषय का सङ्कल्प (जीवात्मा) करता है (इस से ज्ञात होता है कि) यह मन भी पाप युक्त है ॥ ६ ॥

पदार्थः—(अथ) अनन्तर (ह) प्रसिद्ध देवगण (मनः) हृदय को अधिष्ठान बनाकर (उद्गीथम्) उद्गीथ की (उपासाञ्चक्रिरे) उपासना करने लगे (ह) निस्सन्देह (असुराः) दुष्ट इन्द्रिय प्रवृत्तियोंने (तत्) उसे (पाप्मना) पाप से (विविधुः) विद्धकिया । अर्थात् यहभी ब्रह्म की पूजा के योग्य स्थान नहीं है यह देवों को ज्ञात हुआ (हि) क्योंकि (तेन) उस मन से (संकल्पनीयञ्च) संकल्प योग्य (असंकल्पनीयञ्च) और असंकल्प योग्य

(उभयम्) दोनों विषयों का (संकल्पयते) जीवात्मा ध्यान करता है (तस्मात्) उस से ज्ञात होता है (एतत्) यह मन (पाप्मना) पाप से (विद्धम्) युक्त है ॥ ६ ॥

भाष्याशयः—बहुत से मनुष्य मन के द्वारा इन्द्रियों को वश करके केवल हृदय कमल में ही ईश्वर का ध्यान किया करते हैं इसको भी उपनिषद् निषेध करती है ॥ ६ ॥ यद्यपि-

"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।
ईशानोभूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते" ॥

शरीर के मध्य में अङ्गुष्ठमात्र पुरुष विद्यमान है जो भूतभविष्यत् का नियन्ता है उसे जानकर जीवात्मा क्लेशादि से निवृत्त होजाता है । पुनः—

"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ।
ईशानोभूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः" ॥

जो धूमरहित अग्नि की ज्योति के सदृश अङ्गुष्ठ मात्र पुरुष भूत भविष्यत वर्त्तमान आदि का नियन्ता है वही सदा स्थिर रहने वाला एक रस सबों के हृदय में विद्यमान है । पुनः-

"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः" ।

अङ्गुष्ठ परिमाण वाला वह अन्तरात्मा पुरुष सदा मनुष्यों के हृदय में सन्निविष्ट है इत्यादि अनेक प्रमाण से सिद्ध है कि हृदय में उस ब्रह्म का ध्यान करना चाहिये। फिर आप कैसे कहते हैं कि हृदय में भी ध्यान करना ठीक नहीं । उत्तर-केवल हृदय में उपासना करने का श्रुति निषेध करती है क्योंकि ब्रह्मकी व्यापकता के सर्वत्र विद्यमान रहने के कारण किसी एक ही स्थल में ब्रह्मकी उपासना करनी सर्वथा अनुचित है । इस विषय को महर्षि व्यास ने निज वेदान्त सूत्र अध्याय १। पाद ३। सूत्र २६। में विस्पष्ट किया है ॥ ६ ॥

अथ ह एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपा-

साञ्चक्रिरे । तꣳ हासुरा ऋत्वा विदध्वंसुर्यथा-
ऽश्मानमाखणमृत्वा विध्वꣳसेत ॥ ७ ॥

अथ । ह । यः । एव । अयम् । मुख्यः । प्राणः ।
तम् । उद्गीथम् । उपासाञ्चक्रिरे । तम् । ह । असुराः ।
ऋत्वा । विदध्वंसुः । यथा । अश्मानम् । आखणम् ।
ऋत्वा । विध्वंसेत ॥ ७ ॥

भाष्यम्-तत्तत् पूर्वोक्तस्थाने ईश्वर सपर्यामनुचितामवलोक्य देवा अनन्तरं य एवायं मुख्यः प्राणस्तमेव उद्गीथं मत्वा। उद्गीथपदवाच्यं ज्ञात्वा उपासाञ्चक्रिरे । अत्र मुख्यपदं श्रेष्ठस्य वरणीयस्य प्राणवाच्यस्य ब्रह्मण एव विशेषणम् । प्राणपदेन च ब्रह्मलक्षणीयम् । नतु मुखेभवः मुख्यः मुखस्थित इतियावत् । न वा प्राणशब्देन वायुरत्र विवक्षितः । मुखस्थितप्राणस्यापि पूर्वोक्तदोषसंभवात् । मुख्यशब्दोत्र श्रेष्ठवाची । अत्र प्रमाणम्-

प्रधानमुत्तमं रम्यं श्रेष्ठं मुख्यमनुत्तमम् ।
वरं वरेण्यं प्रमुखं परार्द्धं प्रवरं तथा ॥ इतिकोशः ।

इत्येवं विधाः शब्दाः परस्परपर्यायाः । लोकेपि च श्रेष्ठेर्थे प्रयुज्यते । प्राणः । सर्वाञ्जीवान् यः प्राणयति जीवयति आनन्दयति सः ! तद्ब्रह्म एव । स उ प्राणस्य प्राण इति श्रुत्यन्तरात् । अयमितिपदं ब्रह्मणः सर्वत्र विद्यमानतां द्योतयत् सर्वैर्दृश्यमानत्वमिव निर्दिशति । यद्वा । मुख्यः प्राणोत्रात्मा । तमधिष्ठानीकृत्य । उद्गीथं ब्रह्मोपासाञ्चक्रिरे । यद्वा । जीवनहेतुकशरीरस्थितश्रेष्ठप्राणस्य ग्रहणं कर्त्तव्यम् । प्राणशब्दस्य प्रयोगः उपमार्थोस्ति वा । यथास्य देहस्य स्थितिहेतुर्मुख्यः कोपि प्राणोस्ति तथैवास्य परितोविकाशमा-

नस्य ब्रह्माण्डस्य गतिकारणं कोपि महान् प्राणो विद्यते । यः सम्पूर्णं प्राणयति जीवयति तद्ब्रह्मैव । लघुना शरीरदृष्टान्तेन महद्ब्रह्माण्डं लक्ष्यते । तेनजीवनहेतुत्वेन तदुपासीतेतिनिष्कर्षार्थः । एतत् प्रकरणस्थानि सर्वाणि विशेषणानि प्रधानत्वेन ब्रह्मप्रतिपादयन्ति । अपहतपाप्मत्वम् । अङ्गिरो बृहस्पतिप्रभृतिभिर्ऋषिभिरुपास्यत्वं च तस्मिन्नेव सम्भवति । तं मुख्यं प्राणम् । ऋत्वा प्राप्य । असुरा दुष्टेन्द्रियवृत्तयः । विदध्वंसुः विनष्टाः । यदा मनुष्या ईश्वरसान्निध्यमुपयन्ति । तदा सर्वानर्थाः प्रक्षिणवन्ति । अत्र दृष्टान्तः । आखणम् । खनितुमशक्यः अखणः । अखणः एव आखणः । भेदानर्ह इत्यर्थः । तम् । अश्मानं प्रस्तरम् । ऋत्वा प्राप्य । सामर्थ्यात् लोष्टः पांशुपिण्डः इत्यध्याहरः । यथा विध्वंसेत विनश्येत विदीर्येत । तथैव ते विदध्वंसुरित्यर्थः ॥ ७ ॥

अनुवाद— जब शास्त्री इन्द्रिय प्राणों के प्राण जीवनहेतु सर्व श्रेष्ठ इस व्यापक ब्रह्म की उपासना करने लगे । तब दुष्ट इन्द्रिय वृत्तिएं प्राण के समीप आ नष्ट होगईं । सो जैसे अच्छेद्य अभेद्य प्रस्तर के ऊपर गिरकर मिट्टी के पिण्ड छिन्न भिन्न होजाते हैं तद्वत् ॥ ७ ॥

पदार्थः-(अथ) अनन्तर (ह) प्रसिद्ध (यः) जो (एव) ही (अयम्) यह (मुख्यः) श्रेष्ठ सर्वोत्तम (प्राणः) ईश्वर, जीवात्मा, और शरीरस्थमुख्यप्राण है (तम्) उस ब्रह्म को लक्ष्य करके अथवा उस आत्मा को अधिष्ठान बना अथवा उसको जीवन हेतु समझ (उद्गीथम्) ब्रह्म की (उपासाञ्चक्रिरे) वे देव लोग उपासना करने लगे । (तम्) उस प्राण को (ऋत्वा) पाकर (ह) प्रसिद्ध (असुराः) दुष्ट इन्द्रिय प्रवृत्तिएं (विदध्वंसुः) छिन्नभिन्न हो गईं (यथा) जैसे (आखणम्) अभेद्य (अश्मानम्) प्रस्तर को (ऋत्वा) पाकर (विदध्वंसेत) मिट्टी का पिण्ड छिन्न भिन्न हो जाय ॥ ७ ॥

भाष्याशयः—तत्तत् स्थानों में अशुद्धता के कारण ईश्वर की पूजा अनुचित समझ शरीरस्थित आत्मा को अधिष्ठान बना ईश्वरकी उपासना से वे लोग विजयी हुए ॥ ७ ॥

मुख्यशब्दः-इन के ये अर्थ हैं-प्रधान, उत्तम, रम्य, श्रेष्ठ, मुख्य, अनुत्तम, वर, वरेण्य, प्रमुख, परार्द्ध प्रवर इत्यादि। जो कोई "मुखसम्बन्धी जो वस्तु उसे मुख्य कहते हैं" ऐसा अर्थ करते हैं वे उपनिषद् के तात्पर्य को नहीं समझते। क्योंकि मुखस्थित प्राण में भी पूर्वोक्त दोष की विद्यमानता के कारण यह भी पापविद्ध है। क्या मुखस्थित और नासिकास्थित प्राण अर्थात् वायु वास्तविक में दो हैं? यथार्थ में वे दोनों एक हैं। अतः मुखस्थित वायु अर्थ करना शङ्कराचार्यादिकों का अनुचित है। इसी खण्ड के द्वितीयमन्त्र की टिप्पणी देखो। लोक में भी मुख्यशब्दार्थ श्रेष्ठ ही लिया जाता है।

प्राणशब्दः—(१) यहां तीन अर्थों में मुख्यतया प्रयुक्त हुआ है। ब्रह्म, जीवात्मा और जीवन का हेतु शरीरस्थित प्राण। संस्कृत भाष्य देखो। यहां पर प्राण शब्द का प्रयोग उपमार्थ भी हुआ है। जैसे इस देह के स्थिति कारण कोई मुख्य प्राण है। वैसे ही इस परितोविकाशमान ब्रह्माण्ड का गतिकारण कोई महान् प्राण विद्यमान है। जो सम्पूर्ण में जीवनीशक्ति को देता हुआ भासित हो रहा है। इस लौकिक शरीर दृष्टान्त से महा ब्रह्माण्ड लक्ष्य है। इस कारण सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के जीवनहेतु गतिसंचारक उसे समझ उसकी उपासना करनी चाहिये। यह प्राण शब्द का निष्कर्षार्थ है। किन्तु मुख्य अर्थ इस का ब्रह्म ही यहां है। क्योंकि प्रकरणस्थ समस्त विशेषण प्रधानत्वेन ब्रह्म का प्रतिपादन कर रहे हैं। अपहतपाप्मत्व अङ्गिरा बृहस्पति प्रभृति महान् ऋषि कर्तृक उपास्यत्व आदि धर्म उसी में घट सकते हैं।

एवम्। यथाऽश्मानमाखणमृत्वा विध्वꣳसत एवꣳ हैव स विध्वꣳसते। य एवंविदि पापं कामयते। यश्चैनमभिदासति। स एषोऽश्माखणः॥ ८॥

(१) प्र० १। खं० १०। मं० ५। के ऊपर टिप्पणी में प्राण शब्द का व्याख्यान देखो।

एवम् । यथा । अश्मानम् । आखणम् । ऋत्वा । विध्वंसते । एवम् । ह । एव । सः । विध्वंसते । यः । एवंविदि । पापम् । कामयते । यः । च । एनम् । अभिदासति । सः । एषः । अश्माखणः ॥ ८ ॥

भाष्यम्–एवम् । ईदृश्यां व्यवस्थायां सत्याम् । यथा येनप्रकारेण । आखणम् खनितुमशक्यम् । अश्मानम् । प्रस्तरम् । ऋत्वा । प्राप्य । पांशुपिण्डः विध्वंसते विनश्यति । एवं ह एव । तथैव यः पुरुषः । एवंविदि । उद्गीथस्यैतत्तात्पर्य्यस्य ज्ञातरि । पापं कामयते पापं कर्त्तुमिच्छति । यश्च । पुनः । एनं ब्रह्मविदम् । अभिदासति हिंसति । सः ब्रह्मविदि पापचारी पुरुषः विध्वंसते विनश्यति । यतः । स एष ब्रह्मवित्पुरुषः । अश्माखण इव । अभेद्योच्छेद्यः प्रस्तर इव वर्त्तते । अधर्षणीय इति यावत् ॥ ८ ॥

अनुवाद–इस प्रकार जैसे अभेद्य अच्छेद्य प्रस्तर के ऊपर फेंका हुआ मिट्टी का ढेला चूरचूर हो जाता है । वैसे ही वह (आदमी) विनष्ट हो जाता है जो प्राणवेत्ता में पाप (अमङ्गल) करने की कामना करता है। और जो उसकी हिंसा करना चाहता है । (क्योंकि) सो यह (प्राणवेत्तायोगी) अश्माखण अर्थात् अभेद्य प्रस्तर समान है इति ॥ ८ ॥

पदार्थः– (एवम्) ऐसी व्यवस्था होने के कारण। अथवा इस प्रकार (यथा) जैसे (आखणम्) अभेद्य अच्छेद्य (अश्मानम्) प्रस्तर (ऋत्वा) पाकर मिट्टी का पिण्ड (विध्वंसते) नष्ट होजाता (एवं हैव) वैसे ही (स विध्वंसते) वह आदमी नष्ट हो जाता (यः) जो (एवंविदि) इस प्रकार जानने वाले ब्रह्मवेत्ता के सम्बन्ध में (पापंकामयते) पाप करना चाहता है (यः च) और जो (एनम्) इस ब्रह्मवादी को (अभिदासति) अनिष्ट पहुंचाना चाहता है । क्योंकि (स एषः) वह यह ब्रह्मवादी (अश्माखणः) अच्छेद्य अखण्डनीय दृढ़तर शिला के सदृश है ॥ ८ ॥

नैवैतेन सुरभि न दुर्गन्धि विजानात्यपहत-
पाप्मा ह्येष तेन यदश्नाति यत्पिबति तेनेतरान्
प्राणानवत्येतमु एवान्ततोऽवित्त्वोत्क्रामति व्या-
ददात्येवान्तत इति ॥ ९ ॥

न । एव । एतेन । सुरभि । न । दुर्गन्धि ।विजानाति।
अपहतपाप्मा । हि । एषः । तेन । यत् । अश्नाति ।
यत् । पिबति । तेन । इतरान् । प्राणान् । अवति ।
एतम् । उ । एव । अन्ततः । अवित्वा । उत्क्रामति ।
व्याददाति । एव । अन्ततः । इति ॥ ९ ॥

भाष्यम्— मुख्यप्राणोपासनस्य फलमुक्त्वाधुना मुख्यप्राणो-पासकस्य दुःखसंसर्गाभावमुपपादयति । नैवैतेनेत्यादिना । एतेन।मु-ख्येन प्राणेनेश्वरेण । सह वर्त्तमानो जीवात्मा । नैवसुरभि । नैव-सुगन्धि । न दुर्गन्धि । वस्तुविजानाति । अत्र सुरभिदुर्गन्धिशब्दौ । उपलक्षणमात्रम् । सुखं दुःखञ्च शीतमुष्णञ्च मानमपमानञ्च सर्वं द्व-न्द्वं नानुभवति।कथमित्थम्? हि यतः एषः। उपासकस्याभीष्टः प्राणा-ख्योदेवः । अपहतपाप्मा । अपहताः विनष्टाः पाप्मानः पापानि यस्य। सः । शुद्ध इत्यर्थः । उपास्यस्य प्राणशब्दाभिलप्यस्य ब्रह्मणो निरतिशयशुद्धत्वात् तदुपासकोपि तदुपासनेन पवित्रीभवति । पवित्रत्वादुपासकस्य क्लेशाभावः। तदुपासकस्य सर्वं परार्थं दर्शय-ति । तेन प्राणेन सह वर्त्तमानः । अयंजीवात्मा । यदश्नाति । अत्ति । यत् किमपि वस्तु पिबति । तेन इतरान् प्राणान् प्राणिनो जीवान् अवति रक्षति ।

अश्नातिपिबती अपि उपलक्षणम् । तेन ब्रह्मणो योगेन । अ-यमात्मा यत् किमपि स्वार्थमाचरति । तदपि परानुग्रहेच्छयैव । यथा बलं प्राप्य दुर्बलान् रक्षति । विद्यां लब्ध्वा परानुपदिशति । धनमा-

साद्य परोपकाराय वितरति। इत्यादि। तद्विपरीतं प्रति क्लेशं सूचयति एतमु । एतमेव प्राणाराममेव । अन्ततः । अन्तावस्थायाम् । मरणावस्थापर्य्यन्तमपि अवित्वा अप्राप्य यदि उत्क्रामति । देहं त्यक्त्वा व्रजति । तदा अन्ततः । व्याददाति एव । सम्यग्मया । अनेन शरीरेण नोपलब्धं ब्रह्म । अतः अन्ततः अन्तःकरणेन यथार्थभावेनेत्यर्थः । व्याददात्येव । मुखंनिस्फार्य्य निःश्वसिति एव । आत्मानं हतभाग्यं मन्यते इत्यर्थः ॥ ९ ॥

अनुवाद—(जो प्राणवित्) उस ब्रह्म के योग के साथ वर्त्तमान रहता। वह सुख और दुःख का अनुभव नहीं करता । क्योंकि यह ब्रह्म परम शुद्ध है । वह योगी जो कुछ व्यापार करता है उस से दूसरे जीवों की रक्षा करता है। इसी ब्रह्म को अन्त अवस्था तक भी न पाकर जो मनुष्य यहां से प्रस्थान करता है वह मुखफार यथार्थभाव से पछताता है ॥ ९ ॥

पदार्थः—(एतेन) इस ब्रह्म के साथ वर्त्तमान जो योगी वह (नव) न तो (सुरभि) सुगन्धि=सुख को (न) और न (दुर्गन्धि) दुर्गन्धि=दुःख को (विजानाति) जानता है (हि) क्योंकि (एष) यह मुख्य प्राण (अपहतपाप्मा) पाप=रहित परमशुद्ध है (तेन) उस के द्वारा (यत्) जो (अश्नाति) खाता है (यत्) और जो (पिबति) पीता है (तेन) उस से (इतरान्) अन्य (प्राणान्) प्राणियों की (अवति) रक्षा करता है । (एतम् उ एव) निश्चय इसी ब्रह्म को (अन्ततः) अन्त समय तक भी (अवित्वा) न पाकर (उत्क्रामति) यदि शरीर का त्याग कर प्रस्थान करता है । तब (अन्ततः) अन्तःकरण से=यथार्थ हृदय से (व्याददाति एव) मुखफार कर निश्वास लेता है कि हाय अन्तवेला में भी ब्रह्म न मिले इस कारण वह पछताता है ॥ ९ ॥

भाष्याशयः—प्रथम ही कह चुके हैं कि मुख्य प्राणशब्द का अर्थ यहां ब्रह्म है । उक्त मन्त्र में ब्रह्मोपासन का फल निर्दिष्ट हुआ। अब मुख्य प्राणोपासक को दुःख संगर्गाभाव का उपपादन किया जाता है । जब यह योगी उस ब्रह्म के साथ योग करता है तब द्वन्द्व से छूट जाता है "सुरभि" और "दुर्गन्धि" शब्द के अर्थ यहां केवल सुगन्धि और दुर्गन्धि ही नहीं हैं किन्तु ये दोनों शब्द उपलक्षणमात्र हैं । अर्थात् सुगन्धि दुर्गन्धि के समान, सुख, दुःख, शीत, उष्ण, मान,

अपमान आदि एतत् सदृश सकल द्वन्द्व का ग्रहण है। अर्थात् ब्रह्म के साथ जब मनुष्य का योग (सम्बन्ध) होता है तब जीवात्मा सुख दुःखादि को समान समझने लगता है ॥

ब्रह्मोपासक के सुख दुःख राहित्य में आगे कारण कहा जाता है "वह ब्रह्म अपहतपाप्मा है" जिस कारण उपासक के उपास्यदेव परमशुद्ध अपापविद्ध है। अतः संसर्ग गुण से उस के उपासक भी शुद्ध विशुद्ध हो जाते हैं। परन्तु शुद्ध वही होसकता है जो सुख दुःखादि द्वन्द्व से विनिर्मुक्त है। ब्रह्मोपासक की सकल कर्त्तव्यता की परार्थता सूचनार्थ आगे का प्रकरण कहा जाता है।

(अश्नाति) खाना (पिबति) पीना ये दोनों शब्द भी उपलक्षण हैं। अर्थात् ब्रह्मोपासक के सकल कर्त्तव्य परोपकार दृष्टि से किये जाते हैं। परोपदेशार्थ विद्या, अकिञ्चन जन को वितरणार्थ धनसंचय, दुर्बलोंको रक्षार्थ बल धारण इत्यादि वे जो कुछ करते हैं उनका परार्थ अभिप्राय है। अन्तिम अंश से अब्रह्मविद्का पश्चात्तापादि शोक सूचित किया गया है ॥

तꣳ हाङ्गिरा उद्गीथमुपासाञ्चक्र एतमु एवाङ्गिरसं मन्यन्तेऽङ्गानां यद्रसः ॥ १० ॥

तम्। ह। अङ्गिराः। उद्गीथम्। उपासाञ्चक्रे। एतम्। उ। एव। अङ्गिरसम्। मन्यन्ते। अङ्गानाम्। यत्। रसः ॥ १० ॥

भाष्यम्– तं। पूर्वोक्तं। मुख्यं। प्राणनामधेयं परमात्मानं लक्षीकृत्य। आत्मामधिष्ठानी कृत्वा हेत्यैतिह्ये। अङ्गिरानामा ऋषिः। उद्गीथमुपासाञ्चक्रे। अङ्गिरः शब्दं व्युत्पादयति। अङ्गानामवयवानां प्राणिनां मध्ये इत्यर्थः। यद्रसः। योरसः। यो मुख्यः। एतमु। एतमेव। अङ्गिरसं मन्यन्ते विद्वांसः। विदुषां वरिष्ठो ब्रह्मनिष्ठोऽखिलजीवेषु श्रेष्ठ अङ्गिरा ऋषिरपि तम्प्राणाराममुपास्तेस्म। आधुनिकैरस्माभिस्तु कल्याणाभिलाषिभिः सुतरां तद्ब्रह्म। अतिशयितमुपासनीयामिति सूचयति ॥ १० ॥

अनुवाद—उसी प्राण वाच्य ब्रह्म को लक्ष्य कर अथवा आत्मा को अधिष्ठान बना अङ्गिरा (१) ऋषि भी उद्गीथ की उपासना किया करते थे। उसी को अङ्गिरा मानते हैं जो सकल प्राणियों में श्रेष्ठ हो * ॥ १० ॥

(१) अङ्गिरा शब्द की व्युत्पत्ति भिन्न २ प्रकार से आचार्य्य लोग करते हैं। खण्ड की समाप्ति के बाद समीक्षा में अंगिरा शब्द देखो।

* कोई आचार्य १०—११–१२ वें मन्त्रों को १३ वें मन्त्र के साथ मिलाते हैं। अङ्गिरा, बृहस्पति, और आयास्य, इन तीनों शब्दों के परे "इति" शब्द का अध्याहार कर इन को कर्मकारक बनाते हैं और इन को प्राण के पर्याय वाचक ही समझते हैं ऋषियों के नाम नहीं। ऐसी संगति बैठाकर यह अर्थ करते हैं। कि दाल्भ्य बक नाम ऋषि ने उस उद्गीथ की अङ्गिरा, बृहस्पति और आयास्य समझकर अर्थात् इन तीनों शब्दों के अर्थों से गम्यमान प्राण को मान उपासना की। इस के प्रताप से ऋषियों के भी उद्गाता हुऐ इत्यादि। शङ्कराचार्य कहते हैं कि यद्यपि "एतमु एवाऽङ्गिरसं बृहस्पतिमायास्यम्प्राणं मन्यन्ते" अर्थात् इसी प्राण को अङ्गिरा, बृहस्पति, आयास्य मानते हैं इस प्रमाण से अङ्गिरा आदि प्राण कहला सकते हैं। तथापि जहां मुख्य अर्थ की बाधा होय वहां गौण अर्थ करना ठीक है परन्तु अन्य श्रुति के द्वारा अङ्गिरा आदि ऋषि भी कहे गये हैं। इसलिये यहां मुख्य अर्थ भी घट सकता है। यदि यह कहा जाय कि फिर वे प्राण क्यों कहलाते हैं ? इस का उत्तर यह है कि वे ऋषि जिस कारण प्राण की उपासना किया करते थे अतः अभेद ज्ञान के लिये प्राण ही के नाम से पुकारे गये। क्योंकि गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, और अत्रि आदि वैदिक ऋषि भी श्रुति के द्वारा प्राण कहे गये हैं इस से प्राण के उपासक ऋषि भी प्राण कहलाये यह विदित होता है वैसा ही यहां पर भी जानना।

इस में ये भी प्रमाण है कि ऋषि शतर्ची कहलाते हैं। शतर्ची शब्द का यदि शब्दार्थ लिया जाय तो सौ ऋचाओं का जानने वाला ऐसा अर्थ होगा परन्तु यह इसका तात्पर्य नहीं है। ईश्वर की उपासना के द्वारा जिनका प्राण अर्थात् आयु सौ वर्ष हों उन्हें शतर्ची कहते हैं अर्थात् प्राण जो ब्रह्म उसकी उपासना से प्राण जो आयु उस के प्राप्त करने वाले शतर्ची अर्थात् शतवर्षजीवी ऋषि कहलाते हैं। यहां प्राण के दो अर्थ हैं। इसी प्रकार गृत्समद–निद्राकाल में वाक् आदियों के निगल जाने के कारण गृत्स नाम प्राण का है। और रेत के विसर्ग और मद के हेतु होने से अपान नाम वायु मद कहलाता है। यह दोनों शब्द मिलकर गृत्समद होता है (वागादीनिन्द्रियाणि गृणातीतिगृत्स मदयतीति मदः) ये संस्कृत व्युत्पत्ति है। विश्वामित्र–यहां मिद स्नेहने धातु से मित्र। विश्वनाम सम्पूर्ण जगत्। निवास के हेतु सम्पूर्ण जगत् स्नेह का पात्र बन रहा है जिस के लिये वह विश्वामित्र नाम प्राण है। इसी प्रकार वामदेव आदि ऋषि-

पदार्थः—(ह) यह शब्द इतिहास सूचक है (तम्) उस पूर्वोक्त प्राण नाम ईश्वर को लक्ष्य कर अथवा प्राणात्मा को अधिष्ठान मान (अङ्गिराः)अङ्गिरा नामक ऋषि (उद्गीथम्) उद्गीथ की (उपासाञ्चक्रे) उपासना किया करते थे । आगे अङ्गिरा शब्द की व्युत्पत्ति कही जाती है (अङ्गानां) अङ्गों के अर्थात् प्राणी समूहों के मध्य (यद्रसः) जो रस अर्थात् श्रेष्ठ है (एतम् उ) इसी को (एव) निश्चय (अङ्गिरसम्) अङ्गिरा (मन्यन्ते) विद्वान् लोग मानते हैं ॥ १० ॥

भाष्याशयः—जब परमविद्वान् और सकल जीवों में श्रेष्ठ अङ्गिरा ऋषि ने भी उस प्राणाराम ब्रह्म की उपासना की थी तब आधुनिक कल्याणाभिलाषी हम जीवों को तो उस की उपासना अवश्य करनी चाहिये ॥ १० ॥

तेन तꣳ ह बृहस्पतिरुद्गीथमुपासाञ्चक्र एतमु एव बृहस्पतिं मन्यन्ते वाग्घि बृहती तस्या एषः पतिः ॥ ११ ॥

तेन । तम् । ह । बृहस्पतिः । उद्गीथम् । उपासाञ्चक्रे । एतम् । उ । एव । बृहस्पतिं । मन्यन्ते । वाग् । हि । बृहती । तस्याः । एषः । पतिः ॥ ११ ॥

भाष्यम्—तेन । तेन हेतुना । तं ह । पूर्वोक्तं । प्राणमात्मानमधिष्ठानीकृत्य । ब्रह्म वा लक्षीकृत्य । बृहस्पतिर्नामा ऋषिः । उद्गीथमुपासाञ्चक्रे । बृहस्पतिशब्दव्युत्पत्तिः-हि यतः वाग् वाणी एव बृहती ।

यों की भी सङ्गति लगती है । परन्तु इन व्याख्यानों से यह नहीं समझना चाहिये कि मनुष्य शरीरधारी वेद प्रचार कर्त्ता भारतवर्ष में नाना वंश प्रवर्त्तक विश्वामित्र आदि ऋषि कोई हुए ही नहीं । अन्यथा परम्परया वेदादियों के प्रचार की सिद्धि ही नहीं हो सकती । इसलिये वे लोग देहधारी मनुष्य तो अवश्य ही हुए हैं । अतः वेद में ये नाम सब यौगिक और लोक में व्यक्ति विशेष अर्थ में योगरूढ़ मानने चाहियें ।

अब उपनिषद् के प्रसङ्ग में शरीरधारी ऋषियों की प्रतीति होती है। क्योंकि इतिहास और उदाहरण के द्वारा उपनिषद्कार का अभिप्राय यह है कि इसी प्राण की उपासना परम प्रसिद्ध वैदिक ऋषि अङ्गिरा आदि भी किया करते थे अतः हे शिष्यो ! तुम्हें भी इसी प्राण की उपासना करनी चाहिये । इतिदिक् ॥

बृहतीशब्द वाच्या वागित्यर्थः । तस्या वाचः । एष ऋषिः पतिरस्ति । अतः । एतम् उ एव । एतमेव बृहस्पतिं मन्यन्ते । बृहत्पतिशब्दाभ्यां बृहस्पतिशब्दस्य सिद्धिः । तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्चेत्यप्यनुसन्धेयम् । तत्र बृहच्छब्देन वेद वाणी गृह्यते । पतिरधिपतौ स्वामिनि वा । अत्र यः खलु वेदवाण्या अधिपतिः । स एव बृहस्पतिः । स तदधिपतित्वात् बृहस्पतिरिति अन्वर्था संज्ञांभेजे ॥११॥

अनुवाद—उसी हेतु उस ब्रह्म को (लक्ष्य करके) वा आत्मा को अधिष्ठान बना बृहस्पति नामा ऋषि उद्गीथ की उपासना किया करते थे । इसी को बृहस्पति कहते हैं जो वाणी के अधिपति हो ॥ ११ ॥

पदार्थः—(तेन) उसी हेतु (ते) उस ब्रह्म को लक्ष्य करके वा आत्मा को अधिष्ठान बना (बृहस्पतिः) बृहस्पति नाम के ऋषि (उद्गीथम्) उद्गीथ की (उपासाञ्चक्रे) उपासना किया करते थे । (ह) यह बात प्रसिद्ध है । आगे बृहस्पति शब्द का अर्थ दिखलाया जाता है । (हि) क्योंकि (वाग्) वचन को (बृहती) बृहती कहते हैं (तस्याः) उस वाणी का (एषः) यह ऋषि (पतिः) पति है । इस कारण (एतमु उ एव) इसी को (बृहस्पतिम्) बृहस्पति (मन्यन्ते) विद्वान लोग मानते हैं अर्थात् बृहत्+पति इन दो शब्दों से बृहस्पति बनता है । बृहत् वा बृहती नाम वाणी का है । पतिनाम स्वामी का । वेद वाणी का अधिपति महान् वैदिक विद्वान् होने के कारण बृहस्पति उनका नाम भी अन्वर्थ ही है इति ॥ ११ ॥

तेन तꣳहायास्य उद्गीथमुपासाञ्चक्र एतमु एवायास्यं मन्यन्त आस्याद्यदयते ॥ १२ ॥

तेन । तम् । ह । आयास्यः । उद्गीथम् । उपासाञ्चक्रे । एतम् । उ । एव । आयास्यम् । मन्यन्ते । आस्यात् । यत् । अयते ॥ १२ ॥

भाष्यम्—तेन तेनैव हेतुना तम् । प्राणपदवाच्यमीश्वरं लक्षीकृत्य उत प्राणमात्मानमधिष्ठानीकृत्य । आयस्योनामा ऋषिः । उद्गीथमुपासाञ्चक्रे । आयास्यशब्दस्य व्युत्पत्तिं दर्शयति । यत् यः ।

आस्यात्। आस्येमुखेभवः आस्यः। मुख्यः। मुख्यः प्राणः। प्राणयितृ ब्रह्म इत्यर्थः। तस्मात्। अत्र ल्यप् लोपे पञ्चमी। तम्। आस्यं मुख्यम्। प्राणाभिधेयमीश्वरं विदित्वा इति यावत्। अयते। अन्तर्भावितण्यर्थः। अयते। आययति। अवगमयति यः स आयास्यः। यो मुख्यं प्राणं स्वयं विदित्वाथ जिज्ञासूनवबोधयति स आयास्यनामा ऋषिर्भवति। यत्त्वाह। आस्यात् मुखाद्। अयते गच्छति स आयास्य इति। तन्न संगतम्। नहि मनुष्यो मुखात् बहिर्गन्तुं शक्नोति उत्पद्यते वा॥ १२॥

अनुवाद—उसी हेतु उस ब्रह्म को (लक्ष्य कर) वा आत्मा को अधिष्ठान बना आयास्य नाम के ऋषि उद्गीथ की उपासना किया करते थे। आयास्य उसी को कहते हैं जो स्वयं ब्रह्म को जान अन्य को जनावे॥ १२॥

पदार्थः-(तेन) उसी हेतु (तम् ह) निश्चय उस ब्रह्म को लक्ष्य करके वा उस आत्मा को अधिष्ठान मान (आयास्यः) आयास्य नामा ऋषि (उद्गीथम्) उद्गीथ की (उपासाञ्चक्रे) उपासना करते थे। आगे आयास्य शब्द की व्युत्पत्ति कहते हैं। (एतम् उ एव) निश्चय इसी को (आयास्यम्) आयास्य (मन्यन्ते) मानते हैं (यत्) जो (आस्यात्) मुख्य प्राणाराम ब्रह्म को जानकर (अयते) दूसरे को बोध करवाता है॥ १२॥

भाष्याशयः—"आयास्य" यह "आस्य+आय" इन दो शब्दों के योग से बना है। आस्य नाम मुख। आस्य सम्बन्धी वस्तु को भी आस्य कहते हैं। अब जैसे मुख से मुख्य बनने के हेतु मुख्य का अर्थ केवल मुख सम्बन्धी ही नहीं होता। किन्तु अपने अर्थ को त्याग श्रेष्ठ आदि अर्थ में भी वरतता है। वैसे ही यहां आस्य शब्द का अर्थ केवल मुख सम्बन्धी नहीं। किन्तु श्रेष्ठ आदि जानना। परन्तु सर्व श्रेष्ठ ईश्वर है। अतः आस्य पद से यहां ईश्वर का ग्रहण हुआ है। और "अय" शब्द का अर्थ "बोधयिता" बोध कराने वाला है। अतः यह सिद्ध हुआ कि जो ईश्वर का बोध करावे उसे आयास्य कहना चाहिये। एवं (आस्यात्) इस पद में पंचमी विभक्ति ल्यप् लोप अर्थ में जाननी। जो कोई आस्य शब्द का अर्थ केवल मुख कर "मुख से निकलने वाले को आयास्य कहते हैं" ऐसा कहते सो ठीक नहीं। क्योंकि

मुख से न तो कोई मनुष्य निकल सकता न उत्पन्न हो सकता । आस्य और मुख्य शब्द एक पर्य्याय वाचक होने से आस्य शब्द का अर्थ मुख्य ही करना चाहिये इति दिक् ॥ १२ ॥

तेन तꣳह वको दाल्भ्यो विदाञ्चकार स ह नैमिषीयानामुद्गाता बभूव स ह स्मैभ्यः कामानागायति ॥ १३ ॥

तेन । तम् । वकः । दाल्भ्यः । विदाञ्चकार । स । ह । नैमिषीयानाम् । उद्गाता । बभूव । । ह । स्म । एभ्यः । कामान् । आगायति ॥ १३ ॥

भाष्यम्—तेन प्राणोपासनहेतुना । आधुनिकानां मध्ये तमुद्गीथम् । ह । एतिह्ये । दाल्भ्यो दल्भ्यस्यर्षेरपत्यं वको नामतः विदाञ्चकार । विज्ञातवान् । स वको नामा ऋषिः । नैमिषीयानां नैमिषारण्य निवासिनां परम प्रसिद्धानां सत्रमुपासीनानामृषीणाम् । उद्गाता । एतन्नामक ऋत्विक् बभूव । स । एभ्यो मुनिभ्यो निमित्ताय कामान् । अभिलषितान् मनोरथान् । आगायतिस्म ब्रह्मगान प्रभावेण आपूरयतिस्म इति यावत् हेतिप्रसिद्धम् । न केवलं चिरंतना एव ऋषयस्तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे । इदानीन्तनोऽप्युपासितवान् । उपास्य च अन्येषामृषीणां कामानां पूरयितापि बभूव ॥ १३ ॥

अनुवाद—इसी प्रकार प्राणोपासना हेतु उस ब्रह्म को दाल्भ्यवक नामा ऋषि ने जाना । वह नैमिषारण्य निवासी ऋषियों के उद्गाता हुए और उन के अभीष्ट पूरण किये यह प्रसिद्ध है ॥ १३ ॥

पदार्थः—(तेन) उसी प्राणोपासना से (तम्) उस उद्गीथ को (दाल्भ्यः) दल्भ नाम के ऋषि के पुत्र (वकः) वक नामा ऋषि ने (विदाञ्चकार) जाना (सह) वह प्रसिद्ध ऋषि (नैमिषीयानाम्) नैमिषारण्य निवासी परमप्रसिद्ध और यज्ञ करने की इच्छा करने वाले ऋषियों के (उद्गाता) उद्गाता नाम के ऋत्विक् (बभूव) हुए । (सः) वह (एभ्यः) इन के लिये

(कामान्) मनोरथों को (आगायतिस्म) गाया करते थे अर्थात् उनके मनोरथ को पूर्ण किया करते थे (ह) यह बात प्रसिद्ध है ॥ १३ ॥

भाष्याशयः—पूर्व तीन उदाहरण प्राचीन ऋषियों के दिये गये । यह चतुर्थ उदाहरण उस समय का है जिस समय उपनिषद् लिखी गई। उस काल में यह आधुनिक उदाहरण था। यह बक नाम ऋषि केवल उनके उद्गाता ही नहीं किन्तु उनके कामों के पूरक भी हुए ॥ १३ ॥

आगाता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्त इत्यध्यात्मम् ॥ १४ ॥

आगाता । ह । वै । कामानाम् । भवति । यः । एतद् । एवम् । विद्वान् । अक्षरम् । उद्गीथम् । उपास्ते । इति । अध्यात्मम् ॥ १४ ॥

भाष्यम्-फलं निर्दिशति-स पुरुषः। कामानाम्। मनोरथानाम्। ह वै निश्चयेन । आगाता । गायकः पूरको भवति । यः पुरुषः । एतद् अक्षरमुद्गीथम् । एवं पूर्वोक्तगुणविशिष्टम् । विद्वान् जानन् सन् उपास्ते । इति अध्यात्मम् । आत्मविषयोपासनमिति यावत् ॥१४॥

अनुवाद—निश्चय वह ब्रह्मवित् कामनाओं का पूरक होता है । जो इस उद्गीथ अक्षर को ऐसे जानता हुआ उपासना करता है । इति अध्यात्मम्॥१४॥

पदार्थः-वह ब्रह्मवित् (कामानाम्) मनोरथों का (ह वै) निश्चय (आगाता) आगायक=पूरक (भवति) होता है (यः) जो (एतत्) इस (उद्गीथम्) उद्गीथ (अक्षरम्) अक्षर की (उपास्ते) उपासना करते हैं । (इति अध्यात्मम्) यह उपासना आध्यात्मिक उपमा के साथ समाप्त हुई ॥ १४ ॥

इति प्रथमप्रपाठकस्य द्वितीयः खण्डः समाप्तः ॥ २ ॥

शुद्धिपत्रम् ।

---:o:---

अशुद्धम्	पृ०	पं०	शुद्धम्
निरूप्यमानत्वात	१	११	निरूप्यमाणत्वात
निर्विकाराच	,,	१२	निर्विकारत्वाच
शब्दो	२	१८	शब्दः
उद्गाता	३	१६	उद्गातृ
अब	६	१७	अव
टी	६	२२	टि
प्रिथिवी	८	१३	पृथिवी
किं तावत्	९	११	किं वस्तु तावत्
धारणमशक्य-	१०	२	धारणस्याशक्य-
नाद्	१०	५	नाद
गृहन्ते	१०	१६	गृह्यन्ते
अत ?	१०	२५	अत
भाष्यशयः	११	६	भाष्याशयः
अर्थ का	१०	१८	अर्थों का
गये	१४	२५	गेय
पृथिव्यो	१६	१०	पृथिव्यो
यथार्थ	२४	२३	याथार्थ्य
अनुशिष्ठो	२७	६	अनुशिष्टो
यो	२७	२७	या
ओ३म्	२६	१२	ओम्
विदुषो श्राव-	३०	१५	विदुष आश्राव
शब्द	३५	१५	शब्दः
प्रमाणवत्ता	३५	१६	प्रमाणता
तद	३५	२५	तद्
यत्त	३६	१६	यातु
निषद्धत्त्व	४०	८	निषत्त्व
वेदवस्त्वम्	४०	६	वेदत्त्वम्
यतो	४०	१०	यत
वेदवत्वं	४६	८	वेदत्वं
दृष्टव्याः	५०	५	द्रष्टव्याः
लिये गये	५०	२१	लिये दुहेगये
सर्वादिमत्वं	५२	१	सर्वादिमत्त्वं
वाचकोम·	५२	४	वाचक उ-
तद्वाचको तथैव	५२	५	तद्वाचको म-
प्रारम्भः	५२	१	प्रारभ्यते
प्रणवमशि-	५६	१६	प्रणवम् शि-
श्रणवन्तः	५६	२३	शृणवन्तः
अवधारिष्यति	५६	२७	अवधारयिष्यति
दखते हुए	६२	३	दखता हुआ
निष्कर्शार्थः	७०	३	निष्कृष्टार्थः
इत्यध्याहरः	७०	१०	इत्यध्याहारः
आत्मामधि-	७५	२०	आत्मानमधि-
आङ्गिरा	७५	२१	आङ्गिरो
बृहस्पातिर्नामा	७७	१८	बृहस्पातिनामा
एतिह्य	८०	११	ऐतिह्य
यकोनामा	८०	१२	दकोनाम